

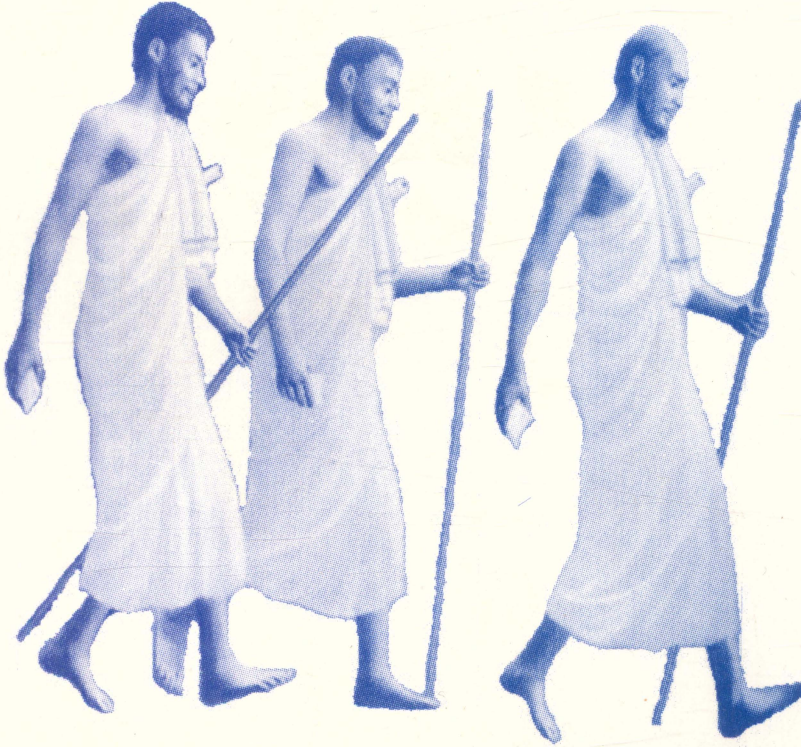
श्रमण *Shramana*

The Quarterly Journal of Research in Indology and Jainology

Vol. LX

No. I

January-March 2009



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

श्रमण
Shramana

The Quarterly Journal of Research in Indology and Jainology

Vol. LX

No. I

January-March 2009

Editor

Hindi Section

Dr. Vijaya Kumar

English Section

Dr. S.P. Pandey

Publisher



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

*Recognized by Banaras Hindu University
as an external Research Centre*

श्रमण

Shramana

भारतीय संस्कृति एवं जैनविद्या की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

The Quarterly Journal of Research in Indology and Jainology

Vol. LX

No. I

January-March 2009

ISSN-0972-1002

Subscription

Annual membership

For Institutions: Rs. 250.00

For Individuals: Rs. 200.00

Per Issue Price: Rs. 50.00

Life Membership

For Institutions: Rs. 2000.00

For Individuals: Rs. 1000.00

*Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of
Parshwanath Vidyapeeth*

Published by : Parshwanath Vidyapeeth

I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005

Ph. 911-0542-2575521, 2575890

Email : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

pври@sify.com

Website : www.parshwanathvidyapeeth.org

Type Setting by : Add Vision

Karaundi, Varanasi-221005

Printed at : Mahavir Press

Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

श्रमण

जनवरी-मार्च २००८

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

| | | |
|--|------------------------|-------|
| १. पतञ्जलि का अष्टांग योग तथा जैन योग-साधना | डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय | १-८ |
| २. प्रेक्षाध्यान द्वारा भावनात्मक चेतना का विकास | डॉ० सुधा जैन | ९-१२ |
| ३. जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप | डॉ० शंभु नाथ सिंह | १३-१६ |
| ४. जैन धर्म का सामाजिक क्रान्ति के रूप में मूल्यांकन | डॉ० आनन्द कुमार शर्मा | १७-२० |
| ५. सामाजिक नैतिकता के सन्दर्भ में कर्म-सिद्धान्त का स्वरूप (गीता एवं जैन दर्शन की दृष्टि में) | डॉ० श्याम किशोर सिंह | २१-२४ |
| ६. भगवतीसूत्र में वर्णित परमाणु विज्ञान | ओम प्रकाश सिंह | २५-२७ |
| ७. उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित पंचमहाव्रत | डॉ० शर्मिला जैन | २८-३२ |
| ८. जैन चिन्तन में प्राणायाम : एक अनुशीलन | मुनि मणिभद्र | ३३-३५ |
| ९. जैन धर्म में भक्ति का स्वरूप | डॉ० ओम प्रकाश सिंह | ३६-३८ |
| १०. पार्श्वचन्द्रगच्छ का संक्षिप्त इतिहास | शिवप्रसाद | ३९-४९ |
| ११. पूर्व-मध्यकालीन जैन अभिलेखों में वर्णित समाज | मंजु कश्यप | ५०-५३ |

ENGLISH SECTION

| | | |
|---|--------------------|-------|
| 12. Kuṣāṇa Art in Mathurā | Prof. R. C. Sharma | 55-64 |
| 13. Contribution of Jainism to Indian Culture | Dr. S.P. Pandey | 65-82 |
| 14. Religious Exclusion: a threat to Social Equality in Jain perspective | Dr. Vijaya Kumar | 83-88 |
| 15. Śrāvastī - The Sacred Place of Śramaṇa Tradition | Km. Richa Singh | 89-92 |
| २०. पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में | | ९३ |
| २१. जैन जगत् | | ९४ |



हिन्दी खण्ड

- पतञ्जलि का अष्टांग योग तथा जैन योग-साधना डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय
- प्रेक्षाध्यान द्वारा भावनात्मक चेतना का विकास डॉ० सुधा जैन
- जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप डॉ० शंभु नाथ सिंह
- जैन धर्म का सामाजिक क्रान्ति के रूप में मूल्यांकन डॉ० आनन्द कुमार शर्मा
- सामाजिक नैतिकता के सन्दर्भ में कर्म-सिद्धान्त का स्वरूप (गीता एवं जैन दर्शन की दृष्टि में) डॉ० श्याम किशोर सिंह
- भगवतीसूत्र में वर्णित परमाणु विज्ञान ओम प्रकाश सिंह
- उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित पंचमहाव्रत डॉ० शर्मिला जैन
- जैन चिन्तन में प्राणायाम : एक अनुशीलन मुनि मणिभद्र
- जैन धर्म में भक्ति का स्वरूप डॉ० ओम प्रकाश सिंह
- पार्श्वचन्द्रगच्छ का संक्षिप्त इतिहास शिवप्रसाद
- पूर्व-मध्यकालीन जैन अभिलेखों में वर्णित समाज मंजु कश्यप

पतञ्जलि का अष्टांग योग तथा जैन योग-साधना

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय*

‘योगश्चित्तवृत्ति निरोधः’ चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णतः निरोध योग है। वस्तुतः चित्त वृत्तियाँ ही संसार हैं, बन्धन हैं। जब तक वृत्तियाँ सर्वथा निरुद्ध नहीं हो जातीं, आत्मा को अपना शुद्ध स्वरूप विस्मृत रहता है। उसे मिथ्या सत्य जैसा प्रतीत होता है। योग-साधना में इस मिथ्या प्रतीति का ध्वस्त हो जाना, आत्मा का शुद्ध स्वरूप अधिगत कर लेना अथवा अविद्या का आवरण क्षीण हो जाना, आत्मा का परमात्म-स्वरूप बन जाना ही साधक का चरम ध्येय होता है। उस चरम ध्येय की प्राप्ति ही बन्धन से छुटकारा है। वही सत्-चित्-आनन्द की प्राप्ति है।

इस स्थिति को पाने के लिए चैतसिक वृत्तियों को सर्वथा रोक देना, मिटा देना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति का मार्ग योग है। महर्षि पतंजलि ने योग के अंगों का निम्नांकित रूप में उल्लेख किया है। ‘यम नियमासन-प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।’^१ अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि - पतञ्जलि ने योग के ये आठ अंग बताये हैं। इनका अनुष्ठान करने से चैतसिक मल अल्पगत हो जाते हैं। फलतः साधक या योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में उसे बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। यही ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’^२ की स्थिति है। तब द्रष्टा केवल अपने स्वरूप में अविस्थित हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार केवलज्ञान, केवलदर्शन, आत्मिक सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि आत्मा के मूल गुण हैं, जिन्हें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों ने अवरुद्ध या आवृत कर रखा है। आत्मा पर आच्छन्न कर्मावरणों के सर्वथा अनावरण से आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसी परम शुद्ध निरावरण आत्म-दशा का नाम मोक्ष है।

आचार्य हरिभद्र की योग-साधना

आचार्य हरिभद्रसूरि अपने युग के परम प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वे बहुश्रुत थे, समन्वयवादी थे, माध्यस्थ्यवृत्ति के थे। उनकी प्रतिभा उनके द्वारा रचित अनुयोग-चतुष्टयविषयक धर्मसंग्रहणी (द्रव्यानुयोग), क्षेत्रसमास-टीका (गणितानुयोग), पञ्चवस्तुक, धर्मबिन्दु (चरणकरणानुयोग), समराइच्चकहा (धर्मकथानुयोग) तथा अनेकान्त जयपताका (न्याय) व भारत के तत्कालीन दर्शन आम्नायों से सम्बद्ध षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों से प्रकट है।

योग के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा, वह केवल जैन-योग साहित्य में ही नहीं, बल्कि आर्यों की समग्र योग-विषयक चिन्तनधारा में एक मौलिक वस्तु है। जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुणस्थान तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा - इन आत्म-अवस्थाओं आदि को लेकर किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने उसी अध्यात्म-विकास-क्रम को योगरूप में निरूपित किया है। उन्होंने ऐसा करने में जिस शैली का उपयोग किया है, वह संभवतः अब तक उपलब्ध योग विषयक ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। उन्होंने इस क्रम को आठ योग दृष्टियों के रूप में विभक्त किया है। योगदृष्टिसमुच्चय में उन्होंने निम्नांकित प्रकार की आठ दृष्टियाँ बताई हैं -

‘मित्रा तारा बला, स्थिरा कान्ता प्रभा परा।

नामानि योगदृष्टीनां, लक्षणं च निबोधत।।’

इन आठ दृष्टियों को आचार्य हरिभद्र ने ओघदृष्टि और योगदृष्टि के रूप में दो भागों में बाँटा है। ओघ का अर्थ है-प्रवाह। प्रवाह-पतित दृष्टि ओघदृष्टि है। दूसरे शब्दों में अनादि संसार-प्रवाह में ग्रस्त और उसी में रस लेने वाले भावाभिनन्दी प्रकृत् जनों की दृष्टि या लौकिक पदार्थ विषयक सामान्य दर्शन ओघदृष्टि है।

* सह-निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी

योगदृष्टि ओघदृष्टि का प्रतिरूप है। ओघदृष्टि जहाँ जागतिक उपलब्धियों को अधिप्रेत मानकर चलती है, वहाँ योगदृष्टि का प्राप्य केवल बाह्य जगत् ही नहीं आन्तर जगत् भी है। उत्तरोत्तर विकास-पथ पर बढ़ते-बढ़ते अन्ततः केवल आन्तर जगत् ही उसका लक्ष्य रह जाता है।

बोध ज्योति की तरतमता की दृष्टि से उन्होंने इन आठ दृष्टियों को क्रमशः तृण, गोमय व काष्ठ के अग्निकणों के प्रकाश, दीपक के प्रकाश तथा रत्न, तारे, सूर्य एवं चन्द्रमा की आभा से उपमित किया है। इन उपमानों से ज्योति का क्रमिक वैशद्य प्रकट होता है।

यद्यपि इन आरम्भ की चार दृष्टियों का गुणस्थान प्रथम (मिथ्यात्व) है, पर क्रमशः आत्म-उत्कर्ष और मिथ्यात्व-अपकर्ष बढ़ता जाता है। गुणस्थान की शुद्धिमूलक प्रकर्ष-पराकाष्ठा-तद्गत उत्कर्ष की अन्तिम सीमा चौथी दृष्टि में प्राप्त होती है। गुणस्थान की शुद्धिमूलक प्रकर्ष-पराकाष्ठा-तद्गत उत्कर्ष की अन्तिम सीमा चौथी दृष्टि में प्राप्त होती है, अर्थात् मित्रा आदि चार दृष्टियों में उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का परिमाण घटता जाता है और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होते आत्म-परिष्कार रूप गुण का परिमाण बढ़ता जाता है। यों चौथी दृष्टि में मिथ्यात्व की मात्रा कम से कम और शुद्धिमूलक गुण की मात्रा अधिक से अधिक होती है अर्थात् दीप्रा दृष्टि में कम से कम मिथ्यात्व वाला ऊँचे से ऊँचा गुणस्थान होता है। इसके बाद पांचवीं स्थिरादृष्टि में मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव होता है। सम्यक्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। साधक उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास-पथ पर बढ़ता जाता है। अन्तिम (आठवीं) दृष्टि में अन्तिम (चतुर्दश) गुणस्थान आत्म-विकास की सर्वोत्कृष्ट स्थिति अयोग केवली के रूप में प्रकट होती है। इन उत्तरवर्ती चार दृष्टियों में योग-साधना का समग्ररूप समाहित हो जाता है।

योगविंशिका में योग की परिभाषा

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत में रचित योगविंशिका नामक अपनी पुस्तक में योग की व्याख्या निम्नांकित रूप में की है -
मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाङ्गओ विसेसेणं।।१।।

संस्कृत छाया-

मोक्षेण योजनातो योगः सर्वोपि धर्म-व्यापारः

परिशुद्धो विज्ञेयः स्थानादिगतो विशेषेण।।

हरिभद्र का आशय है कि यह सारा व्यापार-साधना उपक्रम, जो साधक को मोक्ष से जोड़ता है, योग है।

उसका क्रम वे उसी पुस्तक की निम्नांकित गाथा में लिखते हैं-

ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो।

दुगमित्थकम्मजोगो तथा तियं नाणजोगो उ।।२।।

संस्कृत छाया-

स्थानोर्णार्थालम्बन रहितस्तन्त्रेषु पञ्चधा एषः।

द्वयमत्र कर्मयोगस्तथा त्रयं ज्ञानयोगस्त।।

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और निरालम्बन योग के ये पाँच प्रकार हैं। इनमें पहले दो अर्थात् स्थान और ऊर्ण क्रिया योग के प्रकार हैं और शेष तीन ज्ञानयोग के प्रकार हैं।

स्थान का अर्थ है- आसन, कायोत्सर्ग, ऊर्ण का अर्थ है- आत्मा को योग-क्रिया में जोड़ते हुए प्रणव प्रभृति मन्त्र-शब्दों का यथा विधि उच्चारण, अर्थ-ध्यान और समाधि आदि के प्रारम्भ में बोले जाने वाले मन्त्र आदि। तत्सम्बद्ध शास्त्र उनकी व्याख्याएँ- आदि में रहे परमार्थ एवं रहस्य का अनुचिन्तन, आलम्बन- बाह्य प्रतीक का आलम्बन लेकर ध्यान करना, निरालम्बन- मूर्त द्रव्य अर्थात् बाह्य प्रतीक के आलम्बन के बिना निर्विकल्प, चिन्मात्र, सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान करना।

हरिभद्र द्वारा योगविंशिका में दिये गये इस विशेष क्रम के सम्बन्ध में यह इंगित मात्र है, जिस पर विशद् गवेषणा की आवश्यकता है।

जैन वाङ्मय में योग-साधना का स्वरूप

आचार्य हेमचन्द्र ने योग की परिभाषा निम्नांकित रूप में की है-

चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।

ज्ञान-श्रद्धान चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः।।^५

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष अग्रणी या मुख्य है। योग उस (मोक्ष) का कारण है अर्थात् योग-साधना द्वारा मोक्ष लभ्य है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक्-दर्शन तथा सम्यक्-चारित्र ही योग है। ये तीनों जिनसे सधते हैं, वे योग के अंग हैं। इन अंगों का आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के बारह प्रकाशों में वर्णन किया है।

योग के अंग

महर्षि पतञ्जलि ने योग के जो आठ अंग माने हैं, उनके समकक्ष जैन परम्परा के निम्नांकित तत्त्व रखे जा सकते हैं-

- | | |
|---------|------------|
| १. यम | महाव्रत |
| २. नियम | योग-संग्रह |

| | |
|---------------|-----------------|
| ३. आसन | स्थान, कायक्लेश |
| ४. प्राणायाम | भाव प्राणायाम |
| ५. प्रत्याहार | प्रतिसंलीनता |
| ६. धारणा | धारणा |
| ७. ध्यान | ध्यान |
| ८. समाधि | समाधि |

महाव्रतों के वही पाँच नाम हैं, जो यमों के हैं। परिपालन की दृष्टि से महाव्रत के दो रूप होते हैं- महाव्रत, अणुव्रत। अहिंसा आदि का निरपवाद रूप में सम्पूर्ण परिपालन महाव्रत है, जिसका अनुसरण श्रमणों के लिए अनिवार्य है। जब उन्हीं का पालन कुछ सीमाओं या अपवादों के साथ किया जाता है, तो वे अणु अपेक्षाकृत छोटे व्रत कहे जाते हैं। स्थानांग (५/१) समवायांग (२५) आवश्यक, आवश्यकनिर्युक्ति आदि में इस सम्बन्ध में विवेचन प्राप्त है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय प्रकाश में व्रतों का विस्तृत वर्णन किया है। गृहस्थों द्वारा आत्म-विकास हेतु परिपालनीय अणुव्रतों का वहाँ बड़ा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। जैसाकि वर्णन प्राप्त है, आचार्य हेमचन्द्र ने गुजरीश्वर कुमारपाल के लिए योगशास्त्र की रचना की थी। कुमारपाल साधना-परायण जीवन के लिए अति उत्सुक था। राज्य-व्यवस्था देखते हुए भी वह अपने को आत्म-साधना में लगाये रख सके, उसकी यह भावना थी। अतएव गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी आत्म-विकास की ओर अग्रसर हुआ जा सके, इस अभिप्रेत से हेमचन्द्र ने गृहस्थ जीवन को विशेषतः दृष्टि में रखा।

आचार्य हेमचन्द्र ऐसा मानते थे कि गृहस्थ जीवन में भी मनुष्य उच्च साधना कर सकता है, ध्यान-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उनके समक्ष उत्तराध्ययन का वह आदर्श था जहाँ 'संति ऐगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा' इन शब्दों में त्यागनिष्ठ, संयमोन्मुख गृहस्थों को किन्हीं-किन्हीं साधुओं से भी उत्कृष्ट बताया है। आचार्य शुभचन्द्र ऐसा नहीं मानते थे। उनका कहना था कि बुद्धिमान और त्याग-सम्पन्न होने पर भी साधक, गृहस्थाश्रम, जो महा दुःखों से भरा है, अत्यन्त निन्दित है, उसमें रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता, चञ्चल मन को वश में नहीं कर सकता। अतः आत्म-शान्ति के लिए महापुरुष गार्हस्थ्य का त्याग ही करते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने तो और भी कठोरता से कहा कि किसी देश-विशेष और समय-विशेष में आकाश-कुसुम और गर्दभ-शृंग का अस्तित्व मिल

भी सकता है परन्तु किसी काल और किसी भी देश में गृहस्थाश्रम में रहते हुए ध्यान-सिद्धि अधिगत करना शक्य नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र ने जो यह कहा है, उसके पीछे उनका जो तात्त्विक मन्तव्य है, वह समीक्षात्मक दृष्टि से विवेच्य है।

सापवाद और निरपवाद व्रत-परम्परा तथा पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित यमों के तारतम्यता रूप पर विशेषतः ऊहापोह किया जाना अपेक्षित है। पतञ्जलि रूप को महाव्रत शब्द से अभिहित करते हैं, जो विशेषतः जैन परम्परा से तुलनीय है। योगसूत्र के व्यासभाष्य में इसका तलस्पर्शी विवेचन हुआ है।

यमों के पश्चात् नियम आते हैं। नियम साधक के जीवन में उत्तरोत्तर परिष्कार लाने वाले साधन हैं। समवायांगसूत्र के बत्तीसवें समवाय में योगसंग्रह के नाम से बत्तीस नियमों के उल्लेख हैं, जो साधक की व्रत-सम्पदा की वृद्धि करने वाले हैं। आचरित अशुभ कर्मों की आलोचना, कष्ट में धर्मदृढ़ता, स्वावलम्बी, तप, यश की अस्पृहा, अलोभ, तितिक्षा, सरलता, पवित्रता, सम्यक्-दृष्टि, विनय, धैर्य, संवेद, माया-शून्यता आदि का उनमें समावेश है।

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित नियम तथा समवायांग के योगसंग्रह परस्पर तुलनीय हैं। सब में तो नहीं पर, अनेक बातों में इनमें सामंजस्य है। योगसंग्रह में एक ही बात को विस्तार से अनेक शब्दों में कहा गया है। इसका कारण यह है- जैन आगमों में दो प्रकार के अध्येता बताये गये हैं- संक्षेप-रुचि और विस्तार-रुचि। संक्षेप-रुचि अध्येता बहुत थोड़े में बहुत कुछ समझ लेना चाहते हैं और विस्तार-रुचि अध्येता प्रत्येक बात को विस्तार के साथ सुनना-समझना चाहते हैं। योगसंग्रह के बत्तीस भेद इसी विस्तार-रुचि-सापेक्ष निरूपण-शैली के अन्तर्गत आते हैं।

आसन

प्राचीन जैन परम्परा में आसन की जगह 'स्थान' का प्रयोग हुआ है। ओघनिर्युक्ति-भाष्य (१५२) में स्थान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं- ऊर्ध्व-स्थान, निषीदन-स्थान तथा शयन-स्थान।

स्थान का अर्थ गति की निवृत्ति अर्थात् स्थिर रहना है। आसन का शाब्दिक अर्थ है- बैठना। पर, वे (आसन) खड़े, बैठे, सोते- तीनों अवस्थाओं में किये जाते हैं। कुछ आसन खड़े होकर करने के हैं, कुछ बैठे हुए और कुछ सोये

हुए करने के। इस दृष्टि से आसन शब्द की अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ-सूचक है।

ऊर्ध्व-स्थान- खड़े होकर किये जाने वाले स्थान-आसन ऊर्ध्व-स्थान कहलाते हैं। उनके साधारण, सविचार, सन्निरुद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद तथा गृद्धोड्डीन- ये सात भेद हैं।

निषीदन-स्थान- बैठकर किये जाने वाले स्थानों-आसनों को निषीदन-स्थल कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं- निषद्या, वीरासन, पद्मासन, उत्कटिकासन, गोदोहिका, मकरमुख, कुक्कुटासन आदि।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में चतुर्थ प्रकाश के अन्तर्गत पर्यकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन या गोदोहासन व कायोत्सर्गासन का उल्लेख किया है।

आसन के सम्बन्ध में हेमचन्द्र ने एक विशेष बात कही है- जिस-जिस आसन के प्रयोग से साधक का मन स्थिर बने, उसी आसन का ध्यान के साधक के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए।^१

हेमचन्द्र के अनुसार अमुक आसनों का ही प्रयोग किया जाय, अमुक का नहीं, ऐसा कोई निबन्धन नहीं है।

पातञ्जल योग के अन्तर्गत तत्सम्बद्ध साहित्य जैसे शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगों का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

कायक्लेश

जैन परम्परा में निर्जरा के बारह भेदों में पाँचवां कायक्लेश के अन्तर्गत अनेक दैहिक स्थितियाँ भी आती हैं तथा शीत, ताप आदि को समभाव से सहना भी इसमें सम्मिलित है। इस उपक्रम का काय-क्लेश नाम सम्भवतः इसलिए दिया गया है कि दैहिक दृष्टि से जन-साधारण के लिए यह क्लेशकारक है। पर, आत्मरत साधक, जो देह को अपना नहीं मानता, जो क्षण-क्षण आत्मारुचि में संलग्न रहता है, ऐसा करने में कष्ट का अनुभव नहीं करता। औपपातिकसूत्र के बाह्य तपःप्रकरण में तथा दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की सप्तम दशा में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है।

प्राणायाम

जैन आगमों में प्राणायाम के सम्बन्ध में विशेष वर्णन नहीं मिलता। जैन मनीषी, शास्त्रकार इस विषय में उदासीन से

प्रतीत होते हैं। ऐसा अनुमान है, आसन और प्राणायाम को उन्होंने योग का बाह्यांग मात्र माना, अन्तरंग नहीं। वस्तुतः ये हठयोग के ही मुख्य अंग हो गये। लगभग छठी शती के पश्चात् भारत में एक ऐसा समय आया, जब हठयोग का अत्यन्त प्राधान्य हो गया। वह केवल साधन नहीं रहा, साध्य बन गया। तभी तो हम देखते हैं, घेरण्ड संहिता में आसनों को चौरासी से लेकर चौरासी लाख तक पहुँचा दिया गया।

भाव-प्राणायाम

कुछ जैन विद्वानों ने प्राणायाम को भाव-प्राणायाम के रूप में नई शैली से व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार बाह्य भाव का त्याग- रेचक, अन्तर्भाव की पूर्णता- पूरक तथा समभाव में स्थिरता कुम्भक है। श्वास-प्रश्वासमूलक अभ्यास-क्रम को उन्होंने द्रव्य (बाह्य) प्राणायाम कहा। द्रव्य प्राणायाम की अपेक्षा भाव प्राणायाम आत्मदृष्ट्या अधिक उपयोगी है, ऐसा उनका अभिमत था।

प्रत्याहार

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार की व्याख्या करते हुए लिखा है-

'अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना प्रत्याहार है।'^२

जैन परम्परा में निरूपित प्रतिसंलीनता को प्रत्याहार के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रतिसंलीनता जैन वाङ्मय का अपना पारिभाषिक शब्द है इसका अर्थ है- अशुभ प्रवृत्तियों से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का संकोच करना। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य अप्रशस्त से अपने को हटाकर प्रशस्त की ओर प्रयाण करना है। प्रतिसंलीनता के निम्नांकित चार भेद हैं-

१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता- इन्द्रिय-संयम।

२. मन प्रतिसंलीनता- मन-संयम।

३. कषाय-प्रतिसंलीनता- कषाय-संयम।

४. उपकरण-प्रतिसंलीनता- उपकरण-संयम।

स्थूल रूपेण प्रत्याहार तथा प्रतिसंलीनता में काफी दूर तक समन्वय प्रतीत होता है। पर दोनों के आभ्यन्तर रूप की सूक्ष्म गवेषणा अपेक्षित है, जिससे तद्रत तत्त्वों का साम्य, सामीप्य अथवा पार्थक्य आदि स्पष्ट हो सके। औपपातिकसूत्र बाह्य तप अधिकार तथा व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (२५-७-७) आदि में प्रतिसंलीनता का विवेचन है। निर्युक्ति, चूर्ण तथा टीका-साहित्य में इसका विस्तार से वर्णन हुआ है।

धारणा, ध्यान, समाधि

धारणा, ध्यान, समाधि- ये योग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पातञ्जल व जैन- दोनों योग-परम्पराओं में ये नाम समान रूप में प्राप्त होते हैं। आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, यशोविजय आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी शैली में इनका विवेचन किया है।

धारणा के अर्थ में एकाग्र मनःसन्निवेशना शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। धारणा आदि इन तीन अंगों का अत्यधिक महत्त्व इसलिए है कि योगी इन्हीं के सहारे उत्तरोत्तर दैहिकता से छूटा हुआ आत्मोत्कर्ष की उन्नत भूमिका पर आरूढ़ होता जाता है। प्रश्नव्याकरणसूत्र के संवरद्वार तथा व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के पच्चीसवें शतक के सप्तम उद्देशक आदि अनेक आगमिक स्थलों में ध्यान आदि का विशद विश्लेषण हुआ है।

महर्षि पतञ्जलि ने शरीर के बाहर-आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि; शरीर के भीतर नाभिक्रम, हृत्कमल आदि में से किसी एक देश में चित्तवृत्ति लगाने को धारणा^{११} कहा है। ध्येय-वस्तु में वृत्ति की एकतानता अर्थात् उसी वस्तु में चित्त का एकाग्र हो जाना ध्यान^{१२} है। जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाय, तब वह ध्यान समाधि^{१३} हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि का यह संक्षिप्त वर्णन है। भाष्यकार व्यास ने इनका बड़ा विस्तृत तथा मार्मिक विवेचन किया है।

आन्तरिक परिष्कृति, आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए जैन साधना में भी ध्यान का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर का अन्यान्य विशेषणों के साथ एक विशेषण ध्यान-योगी भी है। आचारांगसूत्र के नवम अध्ययन में जहाँ भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है, वहाँ उनकी ध्यानात्मक साधना का भी उल्लेख है। विविध आसनों से विविध प्रकार से, नितान्त असंग भाव से उनके ध्यान करते रहने के अनेक प्रेरक प्रसंग वहाँ वर्णित हैं। एक स्थान पर लिखा गया है कि वे सोलह दिन-रात तक सतत ध्यानशील रहे। उनकी स्तवना में वहीं पर कहा गया है कि वे अनुत्तर ध्यान के आराधक हैं। उनका ध्यान शंख और इन्दु की भाँति परम शुक्ल है।

वास्तव में जैन परम्परा की जैसी स्थिति आज है, महावीर के समय में सर्वथा वैसी नहीं थी। आज लम्बे उपवास, अनशन आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना में मानसिक एकाग्रता, चैतसिक वृत्तियों का नियन्त्रण,

ध्यान, समाधि आदि गौण हो गये हैं। फलतः ध्यान सम्बन्धी अनेक तथ्यों का लोप हो गया है।

स्थानांगसूत्र अध्ययन चार, उद्देशक एक, समवायांगसूत्र समवाय चार, आवश्यकनिर्युक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन में तथा अनेक आगम ग्रन्थों में एतद् सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में बिखरी पड़ी है।

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने ध्याता की योग्यता व ध्येय के स्वरूप का विवेचन करते हुए ध्येय को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत- इन चार प्रकारों में बाँटा है। उन्होंने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी और तत्त्वभू के नाम से पिण्डस्थ ध्यान की पाँच धारणाएँ बताई हैं, जिनके सम्बन्ध में विवक्षा की विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का भी उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है, जिनका सूक्ष्म अनुशीलन अपेक्षित है।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के सप्तम, अष्टम, नवम, दशम और एकादश प्रकाश में ध्यान का विशद वर्णन है।

धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान, जो आत्म-नैर्मल्य के हेतु हैं, का उक्त आचार्यों (हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र) ने अपने ग्रन्थों में सविस्तार वर्णन किया है। ये दोनों आत्मलक्षी हैं। शुक्ल^{१४} ध्यान विशिष्ट ज्ञानी साधकों को होता है। वह अन्तःस्थैर्य या आत्म-स्थिरता की पराकाष्ठा की दशा है। धर्म-स्थान उससे पहले की स्थिति है, वह शुभमूलक है। जैन परम्परा में अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन शब्दों का विशेष रूप से व्यवहार हुआ है। अशुभ पापमूलक, शुभ पुण्यमूलक तथा शुद्ध पाप-पुण्य से अतीत निरावरणात्मक स्थिति है।

धर्म-ध्यान के चार भेद^{१५} हैं- आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय तथा संस्थान-विचय। स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, आवश्यकसूत्र आदि अर्द्धमागधी आगमों में विकीर्ण रूप में इनका वर्णन मिलता है।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान- ये ध्येय हैं। जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है। वैसे ही इन ध्येय विषयों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त निरोध दशा की ओर अग्रसर होता है, इसलिए इनका चिन्तन धर्म-ध्यान कहलाता है।

धर्म-ध्यान चित्त-शुद्धि या चित्त-निरोध का प्रारम्भिक अभ्यास है। शुक्ल-ध्यान में यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है।

मन सहज ही चञ्चल है। विषयों का आलम्बन पाकर मन की चञ्चलता बढ़ती जाती है। ध्यान का कार्य उस चंचल एवं भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटा, किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, मन शान्त और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध - पूर्ण संवर हो जाता है अर्थात् समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है। आचार्य उमास्वाति ने शुक्ल-ध्यान के चार भेद^{१६} बतलाये हैं -

१. पृथक्त्ववितर्कसविचार, २. एकत्ववितर्कनिर्विचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, ४. व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

आचार्य हेमचन्द्र ने शुक्ल-ध्यान के स्वामी, शुक्ल-ध्यान का क्रम, फल, शुक्ल-ध्यान^{१७} द्वारा घाति-अघाति कर्मों का अपचय आदि अनेक विषयों का विश्लेषण किया है, जो मननीय है।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर-विशिष्ट ज्ञानी मुनि पूर्व श्रुत-विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है। किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था विशेष) पर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामों पर संचरण करता है - शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एवं देह में एक-दूसरे की प्रकृति पर संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से इसे ध्यान कहने में आपत्ति नहीं है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सवितर्क-समापत्ति^{१८} (समाधि) का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्ववितर्कसविचार शुक्ल-ध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण-मिलित समापत्ति-समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा है। इन (पातञ्जल और जैन योग से सम्बद्ध) दोनों की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्य स्पष्ट होंगे। पूर्वधर विशिष्ट ज्ञानी पूर्वश्रुत विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व विचार-अवितर्क कहलाता है। पहले में पृथक्त्व है अतः वह सविचार है, दूसरे में एकत्व है अतः वह अविचार है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रम है, दूसरे में असंक्रम। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र^{१९} में

इन्हें पृथक्त्व-श्रुत-सविचार तथा एकत्व-श्रुत-अविचार के नाम से अभिहित किया है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क-समापत्ति एकत्व-विचार-अवितर्क से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं कि जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का। ध्येय मात्र का निर्भास कराने वाली ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली हो, स्वयं स्वरूप-शून्य की तरह बन जाती है, तब वैसी स्थिति निर्वितर्क समापत्ति के नाम से अभिहित होती है।^{२०}

यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों, वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि^{२१} है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।

निर्विचार-समाधि में अत्यन्त वैशद्य-नैर्मल्य रहता है, अतः योगी को उसमें अध्यात्म-प्रसाद-आत्म-उल्लास प्राप्त होता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है। ऋतम्भरा का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या बुद्धि सत्य को ग्रहण करने वाली होती है। उसमें संशय और अशुभ का लेश मात्र भी अंश नहीं रहता। उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों का अभाव हो जाता है। अन्ततः ऋतम्भरा प्रज्ञा से जनित संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। इस प्रकार समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। जैसाकि पहले उल्लेख हुआ है, जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं, उन्हीं ने उसका शुद्ध स्वरूप आवृत कर रखा है। ज्यों-ज्यों उन आवरणों का विलय होता जायेगा, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जायेगी और वह (आत्मा) स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जायेगी। आवरणों के अपचय के नाश के जैन दर्शन में तीन क्रम हैं - क्षय, उपशम और क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा निर्मल या नष्ट हो जाना क्षय, अवधि-विशेष के लिए मित जाना या शान्त हो जाना उपशम तथा कर्म की कतिपय प्रकृतियों का सर्वथा क्षीण हो जाना और कतिपय प्रकृतियों का समय विशेष के लिए शान्त हो जाना क्षयोपशम कहलाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज है, क्योंकि वहाँ कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद नहीं हुआ है, केवल उपशम

हुआ है। कार्मिक आवरणों के क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है; क्योंकि वहाँ कर्म-बीज सम्पूर्णतः दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अवनत दशा में परिवर्तित हो सकती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा में ऐसा नहीं होता। पातञ्जल और जैन योग के इन बिन्दुओं पर गहराई से विचार अपेक्षित है।

कायोत्सर्ग

‘कायोत्सर्ग’ जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका ध्यान के साथ विशेष सम्बन्ध है, कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है - शरीर का त्याग-विसर्जन। पर जीते जी शरीर का त्याग कैसे संभव है? यहाँ शरीर के त्याग का अर्थ है शरीर की चंचलता का विसर्जन, शरीर का शिथिलीकरण, शारीरिक ममत्व का विसर्जन, ‘शरीर मेरा है’ - इस भावना का विसर्जन। ममत्व और प्रवृत्ति मन और शरीर में तनाव पैदा करते हैं। तनाव की स्थिति में ध्यान कैसे हो? अतः मन को शान्त व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए, जितना किया जा सके। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे, कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो, यह न हो सके तो ओम् आदि का ऐसा स्वर-प्रवाह हो कि बीच में कोई अन्य विकल्प आ ही न सके। उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकचूर्णि आदि में विकीर्ण रूप में एतत्सम्बन्धी सामग्री प्राप्य है। अमितगति-श्रावकाचार और मूलाचार में कायोत्सर्ग के प्रकार, कालमान आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। कायोत्सर्ग के कालमान में उच्छ्वासों की गणना^{२१} एक विशेष प्रकार से वहाँ वर्णित है।

कायोत्सर्ग के प्रसंग में जैन आगमों में विशेष प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमा अभ्यास की एक विशेष दशा है। भद्रा प्रतिमा, महाभद्रा प्रतिमा, सर्वतोभद्रा प्रतिमा तथा महाप्रतिमा - कायोत्सर्ग की इन विशेष दशाओं में स्थित होकर भगवान् महावीर ने ध्यान किया था, जिनका आगमों में उल्लेख है। स्थानांगसूत्र में सुभद्र प्रतिमा का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त समाधि-प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा, व्युत्सर्ग-प्रतिमा, क्षुल्लिकामोद-प्रतिमा, यवमध्या प्रतिमा, वज्रमध्या प्रतिमा आदि का भी आगम-साहित्य में उल्लेख मिलता है। पर इनके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं है। प्रतीत होता है, यह परम्परा लुप्त हो गई जो एक गवेषणीय विषय है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना

ध्यान को परिपुष्ट करने के लिए जैन आगमों में उनके आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि पर भी विचार किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में इनकी विशेष चर्चा की है। उदाहरणार्थ - उन्होंने शान्ति, मुक्ति, मार्दव तथा आर्जव को शुक्ल-ध्यान का आलम्बन कहा है। अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा, विपरिणाम अनुप्रेक्षा, अशुभ अनुप्रेक्षा तथा उपाय अनुप्रेक्षा शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।

ध्यान के लिए अपेक्षित निर्द्वन्द्वता के लिए जैन आगमों में द्वादश भावनाओं का वर्णन है। आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि ने भी उनका विवेचन किया है। वे भावनाएँ निम्नांकित हैं- अनित्य, अशरण, भव, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक एवं बोधि-दुर्लभता।

इन भावनाओं के विशेष अभ्यास का जैन परम्परा में एक मनोवैज्ञानिकता पूर्ण व्यवस्थित क्रम रहा है। मानसिक आवेगों को क्षीण करने के लिए भावनाओं के अभ्यास का बड़ा महत्त्व है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना आदि का जो विस्तृत अर्थ जैन (योग के) आचार्यों ने किया है, उसके पीछे विशेषतः यह अभिप्रेत रहा है कि चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अपेक्षित निर्मलता, विशदता एवं उज्ज्वलता का अन्तर्मन में उद्भव हो सके।

आचार्य हेमचन्द्र का अनुभूत विवेचन

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र का अन्तिम प्रकाश (अध्याय) उनके अनुभव पर आधृत है। उसका प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं - “शास्त्र रूपी समुद्र से तथा गुरु-मुख से जो मैंने प्राप्त किया, वह पिछले प्रकाशों (अध्यायों) में मैंने भली-भाँति विवेचित कर ही दिया है। अब, मुझे जो अनुभव से प्राप्त है, वह निर्मल तत्त्व प्रकाशित कर रहा हूँ।”^{२२}

इस प्रकाश में उन्होंने मन का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। उन्होंने योगाभ्यास के प्रसंग में विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन आदि मन के चार भेद किये हैं। उन्होंने अपनी दृष्टि से इनकी विशद व्याख्या की है। योगशास्त्र का यह अध्याय साधकों के लिए विशेष रूप से अध्येतव्य है।

हेमचन्द्र ने विविध प्रसंगों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, औदासीन्य, उन्मनीभाव, दृष्टि-जय, मनोजय आदि विषयों पर भी अपने विचार उपस्थित किये हैं। बहिरात्मा,

अन्तरात्मा तथा परमात्मा के रूप में आत्मा के जो तीन भेद किये जाते हैं, वे आगमोक्त हैं। विशेषावश्यकभाष्य में उनका सविस्तार वर्णन है।

इस अध्याय में हेमचन्द्र ने और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की है, जो यद्यपि संक्षिप्त हैं पर विचार सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

करणीय

योग दर्शन, साधना और अभ्यास के मार्ग का उद्बोधक है। उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि या तात्त्विक आधार सांख्य दर्शन है, यही कारण है कि दोनों को मिलाकर सांख्य-योग कहा जाता है। दोनों का सम्मिलित रूप ही एक समग्र दर्शन बनता

है, जो ज्ञान और जीवन चर्या के उभय पक्ष का समाधायक है। सांख्य दर्शन अनेक पुरुषवादी है। पुरुष का आशय यहाँ आत्मा से है। जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा अनेक है। जैन दर्शन और सांख्य दर्शन के अनेकात्मवाद पर गवेषणात्मक दृष्टि से गम्भीर परिशीलन वाञ्छनीय है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग तथा जैन योग के अनेक ऐसे पहलू हैं, जिन पर गहराई में तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। क्योंकि इन दोनों परम्पराओं में काफी सामंजस्य है। यह सामंजस्य केवल बाह्य है या तत्त्वतः उनमें कोई ऐसी सूक्ष्म आन्तरिक समन्विति भी है, जो उनका सम्बन्ध किसी एक विशेष स्रोत से जोड़ती हो, यह विशेष रूप से गवेषणीय है।

सन्दर्भ :

१. योगसूत्र, १/२.
२. वही, २/२९.
३. वही, १/३.
४. तृणगोमयकाष्ठाग्रिकणदीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचन्द्राभाः सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा॥ योगदृष्टि-
समुच्चय १५.
५. योगशास्त्र १/१५.
६. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।
योगसूत्र, २/ ३१.
७. जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यान-साधनम्॥ योगशास्त्र
४/१३४
८. शुभ प्रवृत्ति से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता
निर्जरा कहलाती है।
९. १. अनशन, २. उनोदरी (अवमौदर्य), ३. भिक्षाचरी,
४. रस-परित्याग, ५. काय-क्लेश, ६. प्रतिसंलीनता,
७. प्रायश्चित्त, ८. विनय, ९. वैयावृत्य (सेवा),
१०. स्वाध्याय, ११. कायोत्सर्ग।
१०. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां
प्रत्याहारः। योगसूत्र, २-५४.
११. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र, ३/१.
१२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। वही, ३/२.
१३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। वही, ३/३
१४. शुचं क्लमयतीति शुक्लम्-शोकं ग्लपयतीत्यर्थः।
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.
१५. आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य।
तत्त्वार्थसूत्र ९.३७.
१६. पृथक्तवैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-
निवृत्तीनि। - वही, ९.४१.
१७. आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले।
१८. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णां सवितर्का समापत्तिः।
योगसूत्र १/४२
१९. ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्य-श्रुताविचारं च।
सूक्ष्म-क्रियमुत्सन्न-क्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत्॥ योगशास्त्र,
११/५
२०. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
योगसूत्र १/४३
२१. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।
वही, १.४४.
२२. अष्टोत्तरशेतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्ध-मन्यस्तप्तविंशतिः॥
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे।
सन्ति पञ्च नमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति॥
अभितिगति श्रावकाचार ६. ६८-६९.
२३. श्रुतसिन्धोर्गुरुमुखतो यदधिगतं तदिह दर्शितं सम्यक्।
अनुभवसिद्धमिदानीं प्रकाशयते तत्त्वमिदममलम्॥
योगशास्त्र १२.१

प्रेक्षाध्यान द्वारा भावनात्मक चेतना का विकास

डा० सुधा जैन*

वर्तमान में ध्यान की प्रासंगिकता उतनी ही है जितनी प्राचीन काल में थी, बल्कि यह कहा जाए कि वर्तमान में प्राचीन काल से कहीं अधिक है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज के व्यस्त जीवन में मन विचारों, कल्पनाओं, स्मृतियों, वृत्तियों, कामनाओं और विकार वासनाओं आदि में सक्रिय रूप से संश्लिष्ट है, जिनकी निवृत्ति के लिए मन का निरोध आवश्यक प्रतीत होता है। आज भौतिक सुखों से उत्पन्न मानसिक अशांति के निराकरण के लिए भारतीय तो क्या पाश्चात्य जैसे विकसित कहे जाने वाले देश भी भारतीय संतों एवं महात्माओं की योग एवं ध्यान की शिक्षा के लिए लालायित रहते हैं। ऐसे में मन का विरोध करना उचित नहीं जान पड़ता है, क्योंकि विरोध करने से मन कुंठित होकर नाना प्रकार की व्याधियों को जन्म देता है जिससे एक नई समस्या उत्पन्न होती है। अतः योग से मन का निरोध करना चाहिए। योग से चित्त एकाग्र होता है। चित्त की एकाग्रता का प्रबलतम एवं सर्वोत्तम साधन है- ध्यान। ध्यान के माध्यम से मन की चंचलता, अस्थिरता, अशांति तथा व्यग्रता का नाश होता है और आनन्द, सुख के स्रोत जो अन्तर्मन में बन्द रहते हैं, खुल जाते हैं। यदि यह कहा जाए कि भटकते हुए मानव को कोई त्राण दिला सकता है तो वह है- सद्ध्यान। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना-पद्धतियों को विद्वत्जन अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही पश्चिमी देशों के लोगों का ध्यान के प्रति बढ़ते आकर्षण को देखते हुए ध्यान को पश्चिमी देशों के लोगों की रुचि के अनुरूप बनाकर विदेशों में निर्यात किया जा रहा है। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति है, उसके कारण भोगवादी एवं मानसिक तनावों से संतृप्त पश्चिमी देशों के लोग चैतन्य शांति का अनुभव करते हैं और यही कारण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है।

आज का युग समस्याओं का युग है। व्यक्ति समस्याओं के जाल में फँसा हुआ है। किसी को भोजन की समस्या है तो किसी को पानी की, किसी को जमीन की समस्या है तो किसी को मकान की। लेकिन इन सब की जड़ में यदि कोई समस्या है तो वह है मन की समस्या। विकास के क्रम में भले ही व्यक्ति को भौतिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हो जाएँ, बौद्धिक विरासत भी चरम सीमा को छू ले, फिर भी जब तक मानसिक समस्याओं का सटीक समाधान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उसकी मानसिक अशांति और उद्विग्नता की परिसमाप्ति नहीं होती। मानसिक तनाव आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है। लाखों व्यक्ति प्रतिवर्ष पागल होते हैं और लाखों ही आत्महत्या करते हैं। मानसिक अशांति को दूर करने के लिए आधुनिक दवाईयाँ एवं ड्रग्स के सेवन किये जाते हैं। फलतः व्यक्ति नशा का सेवन करने लगता है। शौकवश या संगति से इसकी लत पड़ जाती है जिससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। नशा का सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है जिससे मस्तिष्क की नाड़ियाँ यानी स्नायुत्रं इस प्रकार प्रभावित होते हैं कि व्यक्ति उसका आदि हो जाता है। फलतः चोरी, हिंसा आदि के द्वारा धन प्राप्त कर अपने नशे की लत को पूरा करना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। हम सभी जानते हैं कि पूरे विश्व में वैचारिक क्रान्ति के फलस्वरूप द्वन्द्व, टकराहट, युद्ध आदि से मानव बेचैन है। लक्ष्य की स्थिरता के अभाव में जिन्दगी की सभी राहें धूमिल हो चुकी हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न उठता है कि क्या प्रेक्षाध्यान आज के युग में पीड़ित मानव को उसकी पीड़ा से त्राण दिलाने में सक्षम है? यदि है तो कितना और किस रूप में?

मनोविज्ञान में यह माना गया है कि सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम, ऑटोनोमिक नर्वस सिस्टम और हाइपोथैलेमस - ये तीन बड़े नियामक केन्द्र हैं और इनके साथ-साथ मस्तिष्क तथा नाड़ी संस्थान के कुछ भाग भी नियमन करते हैं। किन्तु योग और अध्यात्म की प्रक्रिया में इनसे हटकर कुछ और भी

* वरिष्ठ प्राध्यापक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी

बातें बताई गई हैं जो केवल शारीरिक विधि-व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं हैं, उनका सम्बन्ध भावना से है। वे भावात्मक प्रक्रियाएँ हैं, जिनके द्वारा उन केन्द्रों में परिवर्तन लाया जा सकता है। रसायनों के द्वारा परिवर्तन करना, विद्युत प्रवाह या इलेक्ट्रोड के द्वारा परिवर्तन करना- एक प्रक्रिया है किन्तु स्थाई नहीं है। जब तक इलेक्ट्रोड लगा रहता है, तब तक उसका प्रभाव बना रहता है और उसके हटाने पर प्रभाव गायब हो जाता है। रसायन का इंजेक्शन लगाते ही क्रोध उपशांत हो जाता है किन्तु वह स्थायी रूप से समाप्त नहीं होता। कुछ समय पश्चात् स्थिति पूर्ववत् हो जाती है।

हमारा मस्तिष्क रासायनिक प्रभाव और विद्युतीय प्रभाव के बीच काम करता है। प्रश्न होता है कि जब इन सब उपायों से परिवर्तन घटित किया जा सकता है तो फिर ध्यान का प्रयोग क्यों किया जाए? इंजेक्शन तथा इलेक्ट्रोड का प्रयोग सीधा है। इनका प्रयोग किया कि क्रोध, कामवासनाएँ, उत्तेजनाएँ आदि शांत हो गयीं। फिर ध्यान का लम्बा अभ्यास क्यों किया जाए। समाधान स्वरूप कहा जा सकता है कि ये सारे उपाय अस्थायी प्रभाव पैदा करने वाले होते हैं, इनसे स्थायी हल नहीं होता। स्थायी समाधान के लिए एकमात्र उपाय ध्यान ही है। अध्यात्म का मार्ग विरोधाभासों से मुक्त, निर्द्वन्द्व और स्पष्ट मार्ग है, उसमें कोई विसंगति नहीं है। वह केवल शोधन और रेचन की प्रक्रिया है। स्वाध्याय के द्वारा भी भावों को बदला जा सकता है।^२ अच्छा विचार और अच्छा चिंतन करने से, अच्छे साहित्य का अध्ययन व मनन करने से भाव बदल जाते हैं, वृत्तियाँ बदल जाती हैं। यदि विधि सहित स्वाध्याय किया जाए तो प्रभाव अवश्य पड़ता है। पढ़ना मात्र ही स्वाध्याय नहीं है। उसके साथ चिन्तन-मनन भी जुड़ना चाहिए, तभी वह लाभदायक होता है। पढ़ने के बाद मनन के द्वारा जो प्राप्त होता है वह निश्चित ही हमारे भाव परिवर्तन के लिए प्रभावी है। जब वृत्तियाँ परिष्कृत होती हैं तब जीवन की धारा भी बदल जाती है।

किसी भी समस्या का स्थायी समाधान है- बाहरी एवं आन्तरिक व्यक्तित्व का संतुलन।^३ आज इसको विस्मृत कर दिया गया है। दोनों व्यक्तित्वों का विकास होने पर ही समस्या का समाधान होता है। बाहरी व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ आन्तरिक व्यक्तित्व का भी विकास होना चाहिए।

इससे परिस्थितियों को सहन करने और कठिनाईयों को झेलने की क्षमता बढ़ती है। प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त शक्ति है, अनन्त आनन्द और अनन्त चेतना है। यदि इनका विकास किया जाए तो समस्याएँ आने पर भी व्यक्ति परेशान नहीं होगा, उसका वह सहनशीलता से सामना करेगा। इसके लिए आवश्यक है- आन्तरिक परिवर्तन।

ध्यान का प्रयोग जीवन के सर्वांगीण विकास का प्रयोग है। यह जीवन के आचरण और व्यवहार को प्रभावित करता है। अखण्ड व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है बाहर और भीतर दोनों को देखें। केवल बाहर या केवल भीतर देखने से समस्या से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतः बाह्य एवं आन्तरिक व्यक्तित्व का समन्वय आवश्यक है। ध्यान इस समन्वय को स्थापित करने की पद्धति है। श्वासप्रेक्षा^४ का प्रयोग संतुलन का प्रयोग है, क्योंकि वह भीतर भी आता है और बाहर भी जाता है। इस क्रिया में वह ऑक्सीजन को भीतर ले जाता है तथा कार्बन-डाईऑक्साइड को बाहर ले आता है। यदि यह क्रिया न हो तो प्राणशक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। ध्यान का प्रयोग जागरूकता का प्रयोग है। श्वास के प्रति जागरूक होने का अर्थ है- जीवन की समग्र जागरूकता का विकास। जो व्यक्ति श्वास के प्रति जागरूक बनता है वह नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण करने में समर्थ हो जाता है। स्थूल व्यक्तित्व और सूक्ष्म व्यक्तित्व, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के बीच एक ग्रन्थि (पीनियल ग्लैंड) सेतु का कार्य करती है। श्वास की जागरूकता से वह प्रभावित होती है और उसमें परिवर्तन आता है, अर्थात् व्यक्तित्व में रूपान्तरण होता है। जब पीनियल ग्लैंड इनऐक्टिव होता है तो आवेग बढ़ते हैं, स्वभाव असंतुलित हो जाता है। अतः आन्तरिक व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए नकारात्मक भावों के स्थान पर विधेयात्मक भावों का विकास करना होगा जिसके लिए आवश्यक है जागरूकता के प्रयोगों का जीवन में सतत अभ्यास।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग जागरूक होने का प्रयोग है।^५ रोटी खाना, पानी पीना, साँस लेना, व्यक्तित्व का अस्तित्व नहीं है, परन्तु इसे नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि जीवन यात्रा पदार्थ के बिना चल नहीं सकती। प्रेक्षा से यह बोध प्राप्त होता है कि हम अपने अस्तित्व के प्रति जग जाएँ। इसके लिए आवश्यक है जागरूकता का विकास। जो व्यक्ति अपने अस्तित्व

के प्रति जागरूक होता है उसके जीवन के हर व्यवहार में जागरूकता आ जाती है। प्रत्येक क्रिया के प्रति वह जागरूक हो जाता है।

ज्ञान और आचरण की दूरी को कम करने के लिए बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास होना चाहिए, किन्तु दोनों का विकास संतुलित होना चाहिए। केवल बौद्धिक विकास से कलह का वातावरण पैदा हो सकता है। परन्तु भावनात्मक विकास के द्वारा स्थिति को बदला जा सकता है। अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के स्त्राव भी हमारे भावों को प्रभावित करते हैं।^६ ग्रन्थि-तंत्र और भावनाओं का गहरा सम्बन्ध है। कुछ व्यक्तियों में ग्रन्थि-तंत्र संतुलित रूप में कार्य करता है, तो कुछ में असंतुलित। किसी ग्रन्थि का स्त्राव अधिक होता है तो किसी का कम। अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग ग्रन्थियाँ कम या अधिक कार्य करती हैं। इसको ऐसे भी समझा जा सकता है कि जब व्यक्ति में द्वेष, तनाव, आवेग आदि अधिक होते हैं तो उसकी एड्रीनल ग्रन्थि अधिक सक्रिय हो जाती है; जो शीघ्र निर्णय लेती है, वह गहराई में जाकर सोचता है तो इसका अभिप्राय है कि उसकी पिच्यूटरी ग्रन्थि अच्छा कार्य कर रही है। यदि व्यक्ति कामोद्दिप्त है, कामवासना सक्रिय है, निरन्तर काम का तनाव बना रहता है तो उस व्यक्ति की गोनाड्स ज्यादा सक्रिय होती है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर होता है और यह अन्तर अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के स्त्रावों के असंतुलन और संतुलन से ही उत्पन्न होता है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस असंतुलन को दूर किया जा सकता है? क्या व्यक्ति में संतुलन की स्थिति लाई जा सकती है? क्या संतुलित व्यक्ति का निर्माण किया जा सकता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक दिया जा सकता है। क्योंकि प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया ग्रन्थियों के स्त्रावों को संतुलित और परिष्कृत करने की प्रक्रिया है। ग्रन्थियों के जो स्त्राव बनते हैं वे एक तरह के नहीं होते हैं और इनके कारणों को विज्ञान अभी तक सिद्ध नहीं कर पाया है। कर्मशास्त्र की दृष्टि से देखा जाए तो सूक्ष्म शरीर या सूक्ष्म चेतना में जिस भावधारा का स्पन्दन होता है वह अपने समतुल्य भावधारा को उत्पन्न करता है और व्यक्ति में उसी प्रकार के भाव बन जाते हैं। ये भाव ही स्त्राव को नियंत्रित करते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ जी कहते हैं कि व्यक्ति के मस्तिष्क में जो 'हाइपोथेलेमस' होता है वह भावनाओं के

प्रति अत्यधिक संवेदनशील होता है और उन्हें ग्रहण करता है। जब भावना हाइपोथेलेमस को प्रभावित करती है तब हाइपोथेलेमस हमारे हारमोन्स और ग्रन्थियों को प्रभावित करता है और व्यक्ति के भाव प्रभावित होते हैं। अतः भावनात्मक विकास का मूल आधार हमारी भावधारा है। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग केवल श्वास, शरीर आदि को देखने का प्रयोग मात्र नहीं है। श्वास और शरीर तो मात्र आलम्बन हैं, माध्यम हैं। प्रेक्षाध्यान ऐसी भावधारा का प्रयोग है जो सम है। अर्थात् जहाँ राग-द्वेष, प्रिय-अप्रिय जैसी कोई बात नहीं है, वहाँ चेतना की केवल शुद्ध प्रवृत्ति है, समता है। जब प्रवृत्ति होती है तब हमारा सारा तंत्र प्रभावित होता है। जब तक व्यक्ति भावधारा और ग्रन्थितंत्र के रसायनों को परिष्कृत करने का प्रयास नहीं करेगा तब तक अत्यधिक बौद्धिक विकास हो जाने पर भी मानसिक समस्याओं का समाधान संभव नहीं है।

आज यह सद्यस्क आवश्यकता है कि व्यक्ति भावनात्मक विकास की प्रक्रिया को अपनाये। प्रेक्षाध्यान परिष्कार की अचूक प्रक्रिया का एक अंग चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा है। यह भावनात्मक परिष्कार की अचूक प्रक्रिया है। हमारे शरीर में अनेक चुम्बकीय क्षेत्र हैं जो रसायनों से प्रभावित होते हैं। वहाँ हमारी चेतना और वृत्तियाँ प्रकट होती हैं। जब व्यक्ति का भाव अशुद्ध होता है तो ग्रन्थियों के स्त्राव भी अशुद्ध होते हैं। व्यक्ति का जैसा चिन्तन एवं आचरण होगा वैसे ही ग्रन्थियों के स्त्राव होंगे। हमारी ग्रन्थियों को प्रभावित करने वाले तीन तत्त्व हैं- चिन्तन, प्रवृत्ति और संवेदन। व्यक्ति की ये तीनों क्रियाएं चिन्तन, प्रवृत्ति और संवेदन अच्छी होती हैं तो ग्रन्थियों का स्त्राव भी अच्छा होता है। किसी ने कहा भी है - We are nice today and they are nice tomorrow. यदि हम ग्रन्थियों के प्रति सही व्यवहार करते हैं तो ग्रन्थियाँ भी हमारे प्रति सही व्यवहार करेंगी। यदि हमारे विचार बुरे हैं तो ग्रन्थियों के स्त्राव भी खराब होंगे और व्यक्ति अपराधी मनोवृत्ति वाला होगा। वह शराब, तम्बाकू, नशीले पदार्थ आदि व्यसनो का सेवन करने लगेगा जिससे शरीर के साथ-साथ चेतना भी विकृत हो जायेगी और पूरा भावतंत्र असंतुलित हो जायेगा। इन बुराईयों से बचने का एकमात्र उपाय है- बौद्धिक विकास के साथ-साथ भावनात्मक विकास। ज्ञान के साथ चारित्र्य का विकास होने पर ही सुख और शांति की अनुभूति हो सकेगी।

यह तभी संभव है जब भावनात्मक विकास होगा और उसे केवल ध्यान के द्वारा ही किया जा सकता है। ध्यान का अर्थ ही है जीवन में जागरूकता का विकास। ध्यान से चेतना इतनी निर्मल बन जाती है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में समता अवतरित हो जाती है। समता की अनुभूति का ही नाम ध्यान है। ध्यान के पृष्ठ अभ्यास के द्वारा ही हम भावधारा को पवित्र बना सकते

हैं तथा विद्युत प्रवाह, प्राणप्रवाह और रासायनिक स्रावों को प्रभावित कर सकते हैं। ध्यान का मूल उद्देश्य है व्यक्ति को यथार्थ से परिचित कराना, यथार्थ में रह सकने की क्षमता प्रकट करना। भावनात्मक परिवर्तन ध्यान का मूल लक्ष्य है और जब यह होता है तो शेष सभी परिवर्तन स्वतः होते रहते हैं।

सन्दर्भ:

१. आचार्य महाप्रज्ञ, अवचेतन मन से सम्पर्क, जैन विश्वभारती, लाडनू, २००३, पृ०-३७
२. आचार्य महाप्रज्ञ, चित्त और मन, जैन विश्वभारती, लाडनू, १९९४, पृ०-९५
३. आचार्य महाप्रज्ञ, कैसे सोंचे, जैन विश्वभारती, लाडनू, १९९९, पृ०-१२७
४. आचार्य महाप्रज्ञ, प्रेक्षाध्यान : श्वास प्रेक्षा, जैन विश्वभारती, लाडनू।
५. युवाचार्य महाप्रज्ञ, चित्त और मन, जैन विश्वभारती, लाडनू, १९९३, पृ०-२०
६. आचार्य महाप्रज्ञ, अवचेतन मन से सम्पर्क, पृ०-४५



जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप

डॉ० शंभु नाथ सिंह*

प्राचीन काल से दो परम्परायें भारतवर्ष में समान रूप से प्रवाहित हो रही हैं- वैदिक परम्परा एवं श्रमण परम्परा। श्रमण परम्परा के अन्तर्गत जैन एवं बौद्ध दो परम्परायें आती हैं। वैदिक और श्रमण दोनों ही परम्पराओं में किसी न किसी रूप में कृष्ण का स्वरूप हमें देखने को मिलता है। वैदिक परम्परा में कृष्ण को जहाँ भगवान् विष्णु का अवतार माना गया है वहीं जैन परम्परा में कृष्ण का वर्णन श्लाघनीय पुरुष के रूप में प्राप्त होता है, तो बौद्ध परम्परा में एक मानव के रूप में उल्लेख मिलता है। यदि समग्रता की दृष्टि से देखा जाए तो सबसे श्रेष्ठ मानव ही है, क्योंकि भगवान् को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए मानव का ही रूप धारण करना पड़ता है। महर्षि व्यास ने महाभारत में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की है कि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। अर्थात् मानव से श्रेष्ठ कोई नहीं है। वैदिक, जैन एवं बौद्ध जितनी भी परम्पराएँ हैं सभी ने मानव की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। न केवल भारतीय परम्परा बल्कि पाश्चात्य परम्परा में भी मानव की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए ग्रीक दार्शनिक प्रोटागोरस ने कहा है 'Man is the measure of all things.' यही कारण है कि भगवान् भी मानव तन को धारण कर अपने को धन्य समझते हैं।

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में कृष्ण के बहुआयामी व्यक्तित्व का विकास कई रूपों में देखा जाता है- समाज सुधारक के रूप में, भगवान् या धार्मिक नेता के रूप में, कुशल राजनीतिज्ञ या कूटनीतिज्ञ के रूप में, कुशल सेवक के रूप में आदि। एक ओर कृष्ण द्वारा आसुरी शक्तियों का विनाश कर पृथ्वी पर से पाप का अंत करना सामाजिक स्तर पर उन्हें युग-प्रवर्तक बनाता है तो दूसरी ओर मानव रूप में उनके द्वारा किये गये असाधारण कार्य उन्हें लीलावतारी भगवान् के रूप में पूजित करवाता है जिसके कारण वे धर्मोद्धारक और

धर्मोपदेशक कहलाते हैं। एक ओर पितामह भीष्म और द्रोणाचार्य का अन्त उन्हें कुशल राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ की कोटि में ला खड़ा करता है तो दूसरी ओर अर्जुन का रथ चलाना उन्हें सेवक तथा भरी सभा में द्रौपदी की तार-तार होती लज्जा को बचाना उन्हें साधारण मानव की भाँति जन-जन का मित्र बना देता है।

ऋग्वेद, आरण्यक, ब्राह्मण तथा उपनिषदों में कृष्ण के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में कृष्ण के तीन रूपों का उल्लेख मिलता है- १. मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में, २. अपत्यवाचक के रूप में ३. कृष्णासुर के रूप में। ऋग्वेद के अष्टम और दशम मंडलों में 'कृष्ण' को मंत्रद्रष्टा ऋषि कहा गया है।^१ ऋग्वेद के प्रथम मंडल में कृष्ण का अपत्यवाचक रूप में उल्लेख मिलता है।^२ ऋग्वेद के ही अष्टम मंडल में 'कृष्ण' नाम के एक 'असुर' का उल्लेख मिलता है, जो गर्भवती स्त्रियों का वध करता था।^३

ऐतरेय आरण्यक में 'कृष्ण हारीत' नाम का उल्लेख है।^४ तैत्तिरीय आरण्यक में कृष्ण के देवत्व की चर्चा है।^५ कौशीतकी ब्राह्मण^६ तथा छान्दोग्योपनिषद् में 'आंगिरस कृष्ण' का उल्लेख है।^७ यह नाम संभवतः आंगिरस ऋषि के यहाँ अध्ययन करने के कारण दिया गया हो।

महाभारत में कृष्ण को वासुदेव, विष्णु, नारायण, गोविन्द, देवकीनन्दन आदि नामों से अभिहित किया गया है।^८ अठारह पुराणों में से लगभग दश पुराण ऐसे हैं जिनमें कृष्ण के दिव्य स्वरूप का उल्लेख मिलता है, यथा- गरुड़पुराण, कूर्मपुराण, वायुपुराण, नारदपुराण, देवी भागवत, अग्निपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण तथा श्रीमद्भागवतपुराण। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध एवं विष्णुपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा और शिव कृष्ण जन्म के अवसर पर अन्य देवताओं के साथ उनके दर्शन के लिए जाते हैं और देवता के रूप में उनकी वंदना करते हैं।^९

बौद्ध साहित्य 'घटजातक' में कृष्ण-चरित्र का वर्णन आया है, लेकिन वहाँ वैदिक एवं जैन साहित्य में प्राप्त कृष्ण-चरित्र से बिल्कुल भिन्न उल्लेख मिलता है। वैदिक एवं जैन साहित्य में कृष्ण को जहाँ क्रमशः विष्णु का अवतार तथा महामानव माना गया है वहीं घटजातक में कृष्ण को वीरपुरुष तो कहा गया है लेकिन साथ ही लुटेरा भी बताया गया है।^{१०} 'महाउमगजातक' में कृष्ण का चरित्र विलासी बताया गया है।^{११}

जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप

जैन साहित्य को मुख्य रूप से हम तीन भागों में विभाजित करके उनमें वर्णित कृष्ण के स्वरूप को जान सकते हैं- आगम साहित्य, आगमेतर साहित्य और पौराणिक साहित्य। आगम साहित्य से अभिप्राय उन साहित्य से है जिनकी रचना भगवान् महावीर के गणधरों ने की और उनका संकलन अंग ग्रन्थों के रूप में विश्रुत हुआ। आगमेतर साहित्य वे हैं जो जैनागमों की ही विषय और शैली में एक विशेष पद्धति से लिखे गये हैं। उस पद्धति का नाम है- अनुयोग। अनुयोग का अर्थ होता है व्याख्या या विवरण। इस पद्धति के प्रणेता आचार्य आर्यरक्षित माने जाते हैं। पौराणिक साहित्य से हमारा अभिप्राय उन साहित्य से है जो कृष्ण स्वरूप का वर्णन करते हैं।

जैन परम्परा में कृष्ण को भगवान् अरिष्टनेमि जो २२वें तीर्थंकर थे, के चचेरे भाई के रूप में विवेचित किया गया है। अतः प्राचीन जैन साहित्य में कृष्ण का उल्लेख मिलना स्वाभाविक है। लेकिन कृष्ण के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वैदिक परम्परा की भाँति जैन परम्परा में भी कृष्ण को वासुदेव कहकर सम्बोधित तो किया गया है, परन्तु दोनों में अन्तर है। वैदिक परम्परा में वसुदेव का पुत्र होने के नाते कृष्ण को वासुदेव कहा गया है, जबकि जैन परम्परा में प्रयुक्त वासुदेव शब्द एक पदविशेष को इंगित करता है।

जैन परम्परा में सम्पूर्ण काल को दो भागों में विभाजित किया गया है- उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में ५४ महापुरुष होते हैं- २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव। कृष्ण नौवें और अन्तिम वासुदेव हैं। इस दृष्टि से वैदिक मान्यता और जैन मान्यता में अन्तर है।

आगम साहित्य जो जैन परम्परा के मूल ग्रन्थ हैं उनमें स्थानांगसूत्र^{१२}, समवायांगसूत्र^{१३}, ज्ञाताधर्मकथासूत्र^{१४}, अन्तकृत्तशासूत्र^{१५}, प्रश्नव्याकरणसूत्र^{१६}, निरयावलि^{१७} व उत्तराध्ययनसूत्र^{१८} में कृष्ण-चरित्र के कुछ अंशों का उल्लेख मिलता है, जैसे- स्थानांगसूत्र में पद्मावती, गौरी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, गांधारी और रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों का उल्लेख मिलता है। समवायांगसूत्र में ५४ महापुरुषों के उल्लेख हैं जिनमें कृष्ण का वर्णन विस्तार से किया गया है। कृष्ण की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है - वे अतिबल, महाबल, निरुपक्रम आयुष्य वाले अनहित, अपराजित, शत्रु का मान मर्दन करने वाले, दयालु, गुणग्राही, अमत्सर, काय की चपलता से रहित, अक्रोधी तथा रोष-तोष-शोकादि से रहित गम्भीर स्वभाववाले थे।^{१९} ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में पाण्डव, कुन्ती, द्रौपदी आदि की चर्चा करते हुए उनसे कृष्ण के सम्बन्धों को विवेचित किया गया है।^{२०} अन्तकृत्तशा में कृष्ण की रानियों, पुत्रों, पुत्रवधुओं, सेनापतियों, समृद्धशाली नगरजनों के दीक्षित होने का उल्लेख मिलता है।^{२१}

आगमेतर साहित्य को दो खण्डों में विभाजित करते हुए कृष्ण के चरित्र को देखा जा सकता है- प्रथम खण्ड के अन्तर्गत वे साहित्य आते हैं जो शलाकापुरुषों के चरित्र को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं तथा द्वितीय खण्ड में पुराण साहित्य को रखा जा सकता है। आगमेतर साहित्य में भी कृष्ण का वही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है जो आगम ग्रन्थों में मिलता है। आगमेतर साहित्य में सबसे प्राचीन संघदासगणि व धर्मदासगणि विरचित 'वसुदेवहिण्डी', जो महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में निबद्ध है, में कृष्ण के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ उनके पिता वसुदेव के भ्रमण-वृत्तांत पर आधारित है। इस ग्रन्थ में कृष्ण के साथ-साथ पाण्डवों और कौरवों का भी वृत्तांत प्राप्त होता है।^{२२} इसके अतिरिक्त आचार्य शीलांकरचित 'चउपत्रमहापुरिषचरियं', आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित 'नेमिनाहचरियं', मल्लधारी आचार्य हेचन्द्रसूरि कृत 'भव-भावना' व 'उपदेशमालाप्रकरण', सोमप्रभसूरि विरचित 'कुमारपाल पडिबोह' और तपागच्छीय देवेन्द्रसूरि की रचना 'कण्ह चरित' में कृष्ण का वर्णन मिलता है। कृष्ण चरित लेखन की परम्परा प्राकृत, संस्कृत, मरुगुर्जर और हिन्दी सभी भाषाओं में समान रूप से देखी जाती है और ऐतिहासिक दृष्टि

से जैन धर्म में कृष्ण-कथा लिखने की परम्परा ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी से प्रारम्भ हुई है। प्रथम शताब्दी के मथुरा के अंकनों में अरिष्टनेमि की मूर्ति के साथ कृष्ण तथा बलदेव के अंकन भी मिलते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि जैन मतावलम्बियों ने ई०पू० में ही कृष्ण को एक विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार कर लिया था।

आगमेतर साहित्य के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट है कि कृष्ण का स्वरूप उसी प्रकार है जिस प्रकार वैदिक परम्परा में देखने को मिलता है। कृष्ण द्वारा कंस-वध, कृष्ण का अपर नाम वासुदेव होना, कृष्ण की अद्वितीय वीरता, पराक्रम और शक्तिसामर्थ्य का प्रसंग लगभग एक जैसा ही है। यदि कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को हम जैन मान्यता के अनुसार विवेचित करना चाहे तो उन्हें दो रूपों में विवेचित कर सकते हैं- (क) मुख्य कथा के रूप में- कृष्ण-जन्म से उनके निर्वाण तक की कथा के द्वारा तथा (ख) गौण कथा के रूप में - महाभारत-कथा, पांडव-कथा, प्रद्युम्नचरित आदि में कृष्ण के कतिपय क्रिया कलापों द्वारा।

जैन पुराणों की परम्परा में आचार्य जिनसेन (द्वितीय) रचित 'हरिवंशपुराण', आचार्य गुणभद्र रचित 'उत्तरपुराण' तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा संस्कृत भाषा में रचित 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में ६३ महापुरुषों के जीवन चरित के साथ ग्रन्थ के आठवें सर्ग में कृष्ण के चरित का वर्णन है। कृष्ण के साथ ही इस पर्व में नेमिनाथ, बलराम, जरासन्ध आदि का वर्णन है। 'हरिवंशपुराण' में कृष्ण के विभिन्न स्वरूपों को रेखांकित किया गया है, जैसे- वीर, विजिगीषु, न्यायप्रिय, असुर संहारक, आततायी विनाशक, लोकोत्तर, महामानव तथा क्षत्रिय राजा आदि। जैन पुराणों में कृष्ण को नौवां नारायण कहा गया है। 'उत्तरपुराण' में कृष्ण को 'गोप' कहकर सम्बोधित किया गया है। प्रारम्भ में 'गोप' शब्द 'गोपालक' के बजाय 'गोरक्षक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, बाद में 'पृथ्वीरक्षक' के रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन पुराणों की कथा पर आधारित प्राकृत कृष्ण काव्य में कृष्ण को चक्रवर्ती वीरपुरुष कहकर उनको मानवीय भूमिका में अंकित किया गया है और नेमिनाथ को त्रिकालदर्शी, ज्ञानी ऋषि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रस्तुत विवरण के

आधार पर कृष्ण को कर्म-भोग भोगने के लिए नरक में जाना पड़ता है, उसके बाद सम्यक्-दर्शन का ज्ञान होने पर वे तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं।^{२३} उत्तरपुराण के ७०वें, ७१वें, ७२वें सर्ग में कृष्ण का वर्णन है जिसमें कृष्ण के चरित्र को प्रकाशित किया गया है। सत्यभामा, सुसीमा, लक्ष्मणा, गान्धारी, गौरी, पद्मावती आदि रानियों के पूर्वभव के वर्णन के साथ कृष्ण के पराक्रम व उनकी वीरता का उल्लेख भी किया गया है। कंस, शिशुपाल, जरासन्ध आदि को मारने के प्रसंग में वीर रस, कृष्ण व नन्द गोप की पत्नी यशोदा के प्रसंग में वात्सल्य रस तथा अरिष्टनेमि के पास जाकर उनकी वन्दना आदि प्रसंगों में शान्त रस का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त यथास्थान शृंगार, करुण और अद्भुत रस का परिचय प्राप्त होता है। उत्तर पुराण की एक विशेषता यह है कि कृष्ण द्वारा राज्य हरण की आशंका से नेमि को विरक्त करने के लिए बाड़े में पशुओं को बन्द कराने की आज्ञा का वर्णन है।

इस प्रकार जैन साहित्य के अध्ययन के पश्चात् वैष्णव और जैन परम्परा में मान्य कृष्ण के स्वरूप में जो मुख्य अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं, वे हैं- जैन मान्यता में कृष्ण को वैदिक परम्परा की भाँति न तो ईश्वर माना गया है और न ही कोई दिव्य पुरुष स्वीकार गया है। उन्हें एक असाधारण वीरपुरुष के रूप में वर्णित किया गया है। चूँकि जैन परम्परा में तीर्थंकरत्व को प्राप्त करना ही मानवीय जीवन का परम लक्ष्य माना गया है इसलिए कृष्ण को भी भविष्य में तीर्थंकर पद प्राप्त करने की मानवीय अभिलाषा से वंचित न करते हुए उनके पुरुषार्थ को जीवन के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाया गया है तथा उनके व्यक्तित्व को श्रेष्ठता प्रदान की गई है। वैदिक परम्परा में वर्णित राधा-कृष्ण की कथा जहाँ विश्वविख्यात है वहीं जैन परम्परा में राधा-कृष्ण का प्रसंग उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गोपकन्याओं के साथ रास रचाने का उल्लेख हरिवंशपुराण में अवश्य उपलब्ध होता है।^{२४} अतः कहा जा सकता है कि वैष्णव परम्परा में मान्य रासलीला के प्रभाव से जैन परम्परा भी वंचित नहीं रह पायी। इसी प्रकार महाभारत युद्ध में कृष्ण की अहम् भूमिका का वर्णन वैष्णव परम्परा में मिलता है किन्तु जैन परम्परा में कृष्ण-कथा के साथ महाभारत का कोई सम्बन्ध किसी भी तरह से जुड़ा नहीं दिखाई पड़ता है जबकि कृष्ण के साथ पाण्डवों, कौरवों आदि के सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है।

संदर्भ :

१. ऋग्वेद - ८।८५, १-९
वही- १०, ४२-४४
२. वही- १।११६, २३
३. वही- ८।९६, १३-१५
४. ऐतरेय आरण्यक - ३।२।६
५. तैत्तिरीय आरण्यक - १०।१।६
६. कौशीतकी ब्राह्मण - ३०।९।७
७. छांदोग्योपनिषद् - ३।१७, ४-६
८. महाभारत, शांतिपर्व - ४३/५
९. श्रीमद्भागवत - १०।२।२५-३१
विष्णुपुराण - ५।२
१०. घट जातक संख्या - ४५४
११. महाउमगग जातक संख्या - ४२१
१२. स्थानांगसूत्र, ८/६२६
१३. समवायांगसूत्र, समवाय, ५४
१४. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, अध्याय ५ पृ०-१५६-१५७,
सम्पा०- मधुकरमुनि
१५. अन्तकृत्तशांगसूत्र, १/१/५-६
१६. प्रश्नव्याकरणसूत्र, अध्याय ४, सम्पा०- उपाध्याय
अमरमुनि
१७. वण्हदसाओ, पृ०-७१२
१८. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २२
१९. समवायांगसूत्र, सम्पा०- मधुकरमुनि, सूत्र ६५७
२०. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, १/१६/८०-८९
२१. अन्तकृत्तशा, ५/१/४
२२. जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास,
पृ०-३८२
२३. उतरपुराण - आचार्य गुणभद्र, ७२ वाँ पर्व, पृष्ठ -
४२७, ४२८
२४. हरिवंशपुराण, ३६/६५-६६



जैन धर्म का सामाजिक क्रान्ति के रूप में मूल्यांकन

डॉ० आनन्द कुमार शर्मा*

जैन धर्म देश के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। जैन धर्म की प्राचीनता सैन्धव सभ्यता से प्राप्त वृषभ की मूर्तियों के आधार पर प्रमाणित की जाती है। हड़प्पा एवं मोहनजोदाड़ो से प्राप्त मूर्तियाँ किसी न किसी रूप में 'ऋषभदेव' की प्रतीक रही होंगी। किन्तु इतना तो तय है कि ऋग्वेद में 'ऋषभ' शब्द का उल्लेख हुआ है।^१ यजुर्वेद में उल्लेखित है - 'ऋषभ' धर्म-प्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं। अथर्ववेद एवं गोपथब्राह्मण में उल्लेखित 'स्वयंभू काश्यप' का तादात्म्य 'ऋषभदेव' से किया जाता है।^२ श्रीमद्भागवत में भी 'ऋषभदेव' का उल्लेख हुआ है।^३ जैन धर्म में मान्य चौबीस तीर्थंकरों में ऋषभदेव प्रथम तथा महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे।

महावीर का काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी धार्मिक क्रान्ति के रूप में विख्यात है। यही वह काल है जब जैन धर्म ने अपने पूर्ण विकसित स्वरूप को प्राप्त किया था। धार्मिक क्रान्ति का ही प्रतिफल है कि जैन धर्म ने अपने सामाजिक विचारों एवं मूल्यों से तत्कालीन समाज में दबे, कुचले एवं पिछड़े व्यक्तियों को सम्बल प्रदान किया। अपने सशक्त साहित्यिक एवं वैचारिक वाङ्मय से समाज में समानता का संदेश दिया जिससे समाज के उत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

समाजवाद की अवधारणा

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय के अध्ययन से विदित होता है कि इसमें समाजवाद की विचारधारा के बीज निहित हैं। जैन धर्म के सिद्धान्त सम्पूर्ण मानवमात्र के हित एवं समानता का संदेश देते हैं। जैन मनीषियों का व्यवहार भी सैद्धांतिक विचारधारा से मेल खाता है। जैन मनीषियों ने जनमानस को सात्त्विक जीवन जीने का संदेश दिया जिसका समाज पर दूरगामी परिणाम होना अपेक्षित था। सात्त्विकता, मनुष्य के जीवन को सरल, निरविकार, चारित्रसम्पन्न और नैतिकतावादी बनाती है। यह संदेश ऐसे समय आया जब समाज नैतिक रूप से पतित हो रहा था, मनुष्यों

का जीवन जटिल, अव्यावहारिक व्यवस्थाओं में जकड़ा हुआ था। भारतवर्ष का विशाल जनसमूह आर्थिक विपन्नता के बोझ के नीचे दबा था। समाज में ऊँच-नीच, अमीरी-गरीबी का भाव विद्यमान था और इस कारण समाज का बहुत बड़ा समुदाय आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार विहिन था। ऐसे समय में जैन धर्म ने अपरिग्रह एवं सम्यक्-आचरण का संदेश दिया जिसमें आर्थिक समानता एवं सर्वोदय की समाजवादी विचारधारा निहित थी। अपरिग्रह अर्थात् उतना ही उपयोग करो, जितना आवश्यक हो। इससे समाज के सभी लोगों को वस्तुएँ मिल सकेंगी। अपरिग्रह आवश्यकताओं के अनन्त फैलाव पर तार्किक रोक का संदेश देता है। इच्छाओं पर नियंत्रण, समाज में असामाजिकता एवं असंतुलन की स्थिति पर अंकुश ही अपरिग्रह का लक्ष्य है।^४

जैन धर्म ने समाज में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, जाति-पाति, स्त्री-पुरुष सभी को समान भाव से देखा। महावीर स्वामी ने संघ में सभी वर्गों का स्वागत किया एवं उन्हें मान्यता प्रदान की।^५ जैन संघों एवं जैन धर्म के अनुयायियों ने अनेक समाज हितैषी कार्य किये जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग मुख्यतः गरीब एवं निर्धनों को अत्यधिक लाभ हुआ। जैन धर्मावलम्बियों ने औषधालयों, विश्रामालयों, शिक्षण संस्थाओं आदि की निःशुल्क व्यवस्था की जिससे निर्धनों एवं निम्न वर्ग के लोगों के प्रति दयाभाव, अनुग्रह एवं दानभावना का विकास हुआ।

नारी की स्थिति में क्रांतिकारी बदलावों का सूत्रपात

भारतीय संस्कृति में स्त्री को सर्वशक्ति-सम्पन्नता एवं सर्वगुण-सम्पन्नता के प्रतीक के रूप में आख्यायित किया गया है। उसे पुरुष की पूर्णता के लिए आवश्यक माना गया है। पुरुष के जीवन में स्त्री का आगमन शुभ, सुख-समृद्धि तथा

* बालाजी विहार कॉलोनी, गुड़ी गुड़ा का नाका, लश्कर, ग्वालियर - ४७४००१

सम्मान का सूचक है।^{१५} महावीर काल में जैन धर्म में नारी को सामाजिक-धार्मिक कार्यों की पूर्ण स्वतंत्रता थी। पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा, बाल-विवाह, बालिका-हत्या, अशिक्षा आदि बुराईयों एवं कुरीतियों से दूर रहकर पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी अपने विकास की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान थी। वह अपनी इच्छानुसार व्रत, दान आदि कर सकती थी। उसे समाज एवं घर-परिवार में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। जैन कला में भी नारी देवी, यक्षी, आर्यिका, श्राविका, साध्वी आदि रूपों में अंकित है, जो समाज में नारी की प्रधानता को इंगित करता है। महावीर स्वामी ने नारी को धम्म सहाया कहकर धर्म की सहायिका माना और सम्मान प्रदान किया। वे स्त्री-समाज के समानाधिकार के पूर्ण पक्षपाती थे। महावीर स्वामी ने उन्हें मोक्षाधिकार प्रदान किया। स्त्रियों के लिए संघ के द्वार खोल दिये। श्रमणी और श्राविकाओं के दो वर्ग नारियों के थे और आज भी हैं। भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र में वर्णित है कि पार्श्वनाथ के श्रमण अनुयायी १६,००० थे, श्रमणियाँ ३८०००, श्रावक १६४००० तथा श्राविकाएँ ३२७००० थीं।^{१६} अतः स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ के अनुयायियों में स्त्रियों की संख्या सर्वाधिक थी। महावीर स्वामी के जैन संघ में ३६००० श्रमणियाँ, १४००० श्रमण, १५९००० श्रावक एवं ३१८००० श्राविकाएँ थीं।^{१७} अतः जैन संघ में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक थी। वास्तव में स्त्रियों को भिक्षुणियों के रूप में स्वीकार करना तत्कालीन सामाजिक परिवेश में एक क्रांतिकारी कदम था।

वर्ण-निरपेक्ष आंदोलन का सूत्रपात

जैन धर्म ने वर्ण-व्यवस्था की बुराईयों पर गंभीर चिन्ता प्रकट करते हुए जाति-भेद की भर्त्सना की।^{१८} महावीर स्वामी के समय प्राचीन अंधविश्वासों, कर्मकाण्डों और वर्ण-व्यवस्था की विशाल दीवारें खड़ी थीं, अतः प्रबल गवेषणा, सत्यानुसंधान एवं रहस्योद्घाटन की दुर्घर्ष उत्कण्ठा के इस काल में उन्होंने समाज को सद्मार्ग दिखाया।^{१९} सभी व्यक्ति चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में जात्याभिमान को १८ पापों में एक पाप माना गया है।^{२०} लेकिन निर्वाण प्राप्ति हेतु मनुष्य को अपनी निम्न प्रवृत्तियों का दमन करना होगा। भगवान् महावीर ने कहा है कि 'जो न अभिमानी है और न दीनवृत्ति वाला है, जिसकी पूजा-

प्रशंसा में उन्नत भाव नहीं है और न निन्दा में अवनत भाव है, वह ऋजुभाव को प्राप्त संयमी महर्षि पापों से विरत होकर निर्वाण मार्ग को प्राप्त करता है।^{२१} अतः जैन संघ ने जाति-भेद को परे रखकर एवं समानाधिकार प्रदान कर सभी लोगों के लिए प्रब्रज्या के द्वार खोल दिये।^{२२} कर्म-व्यवस्था जो तत्कालीन समाज-व्यवस्था में जन्मना मानी जाती थी उसे महावीर स्वामी ने कर्मणा स्थापित किया। उन्होंने मनुष्य को ईश्वरीय हस्तक्षेप से मुक्त करके स्वयं अपना भाग्यविधाता माना और अपने सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य को उसके प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी बताया।^{२३} यही कारण है कि जैन धर्म ने समाज के उत्पीड़ित वर्गों को अत्यधिक प्रभावित किया। जिससे वैश्यों को जो आर्थिक रूप से शक्तिशाली थे, परन्तु जिन्हें तदनुरूप सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी और शूद्र जो स्पष्ट रूप से दलित और सताए हुए थे, को इस वर्ण-निरपेक्ष समाज में सम्मिलित होकर अपने वर्ण से उबरने का अवसर मिल गया। इस प्रकार जैन मत जन्मना वर्ण-व्यवस्था का विरोधी था और इस दृष्टि से इसे वर्ण-निरपेक्ष आंदोलन कहा जा सकता है।^{२४}

व्यापार-वाणिज्य एवं नगर-संस्कृति के प्रसार में भूमिका

जैन धर्म ने अपने सैद्धांतिक व व्यावहारिक रूप में व्यापार-वाणिज्य एवं नगर-संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। वाशम का मानना है कि जैन धर्म व्यावहारिक शुचिता तथा मितव्ययिता के व्यवसायोचित गुणों को प्रोत्साहित करता था।^{२५} अहिंसा पर अत्यधिक बल देने के कारण जैन धर्मावलम्बियों ने व्यापारिक क्रियाकलापों से अविच्छिन्न रूप से अपने आपको जोड़ लिया। फलतः प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कला, कलात्मक शिल्पों को प्रोत्साहन मिला तथा नवीन व्यावसायिक तत्त्वों का उदय हुआ। मितव्ययिता की प्रवृत्ति व्यापारियों की भावना के अनुकूल थी, अतः जैन समाज अपने-आपको आर्थिक लेन-देन तक ही सीमित रखा। इस प्रकार जैन धर्म नगर-संस्कृति के प्रसार से संबद्ध हो गया। पश्चिमी तट पर समुद्री व्यापार होता था, जहाँ जैनियों ने साहूकारी करना प्रारम्भ किया और दूसरे लोग पण्य-वस्तुओं के साथ समुद्र-पार यात्रा पर जाने लगे।^{२६} जैनियों की वाणिज्यवृत्ति से न केवल नगर-संस्कृति का विकास हुआ, अपितु राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय व्यापार और वाणिज्य को गतिशीलता मिली।

कर्म की श्रेष्ठता की समाज में स्थापना

कर्म का सिद्धान्त जैन धर्म की आधारपीठिका है। यह वह सिद्धान्त है जो मनुष्य की मुट्टी में उसके भाग्य को केन्द्रित कर देता है और मनुष्य को उसकी श्रेष्ठता का तथा भाग्य का निर्माता बना देता है। जैन धर्म का यह सिद्धान्त कर्म और मनुष्य दोनों की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित करता है और इस दृष्टि में यह आधुनिक साम्यवादी विचारधारा से मेल खाता है। जैन धर्म का कर्म-सिद्धान्त मनुष्य की उत्पत्ति में ईश्वरीय हस्तक्षेप को खारिज करते हुए, उसे स्वयं के भाग्य का विधाता मानता है। अपने सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है।^{१०} अतः मनुष्य स्वयं अपने कर्मों की कृति है। महावीर स्वामी ने कहा कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण या शूद्र होता है^{११} अर्थात् मनुष्य के कर्म ही उसकी स्थिति को निर्धारित करते हैं। यह विचार तब आया जब भारतीय समाज का

बहुसंख्यक वर्ग दलित था और युग-युग से ईश्वर के नाम पर प्रताड़ित किया जा रहा था। जैन धर्म ने उन्हें नवीन मार्ग दिखाया और उन्हें बताया कि उनकी निम्न स्थिति के लिए ईश्वर जिम्मेदार नहीं है, बल्कि वे स्वयं जिम्मेदार हैं, उन्हें कर्म के पथ पर अग्रसर होने की सलाह दी और बताया कि कर्म की श्रेष्ठता से वे श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। समाज के बहुसंख्यक कमजोर, पद दलित, अधिकार विहिन मनुष्यों के अन्दर कर्म-सिद्धान्त ने जबरदस्त आत्मविश्वास का संचार किया।

इस प्रकार जैन धर्म ने अपने सामाजिक मूल्यों से तत्कालीन समाज में समाजवाद की विचारधारा, स्त्रियों की स्थिति में क्रांतिकारी बदलाव, वर्ण-निरपेक्ष आंदोलन का सूत्रपात, व्यापार-वाणिज्य एवं नगर-संस्कृति का विकास तथा कर्म की श्रेष्ठता की समाज में स्थापना कर महत्वपूर्ण कार्य किया।

सन्दर्भ :

१. ऋग्वेद १०.१६६.१.
२. अथर्ववेद ११.५.२४-२६, गोपथब्राह्मण २.८.
३. श्रीमद्भागवत ५.२८.
४. विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें, बाशम, ए०एल० (सम्पादन) - ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, १९७५, पृ० १००-११०, पाण्डेय, वी०सी० - प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भाग-१, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९९८, पृ० २६१, २६२, २७८, २८२, २८३, शर्मा, आर०एस०, प्राचीन भारत का इतिहास, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, १९९०, पृ० ९७, पांडे, विशम्भरनाथ, भारत और मानव संस्कृति, खण्ड-१, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, १९९६, पृ० १००-१२५.
५. सूत्रकृतांगसूत्र, २.१.३५.
६. विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें, शर्मा, डॉ० आनन्द कुमार - प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति (गुप्त - वर्धन काल तक), शोध-समवेत, श्री कावेरी शोध संस्थान, उज्जैन, वी० १६, नं० ०२, जुलाई-सितम्बर, २००७, पृ० १४७-१५१.
७. मिश्र, जयशंकर - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ कादमी, पटना, २००१, पृ० ७७६.
८. कल्पसूत्र, १३४-३७, आवश्यकनिर्युक्ति गा० २५९, २६३.
९. शर्मा, आर०एस० - पूर्वोक्त, पृ० ९८, मजूमदार, आर०सी० - प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९७३, पृ० १४२-४३, झा-श्रीमाली - प्राचीन भारत, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, नई दिल्ली, २००१, पृ० १४३.
१०. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भाग-१, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९९८, पृ० २५४.
११. वही, पृ० २८१.
१२. उत्तराध्ययनसूत्र, २१.२०.
१३. सूत्रकृतांगसूत्र, २.१.३५.
१४. सूत्रकृतांगसूत्र (जैकोबी-जैन सूत्र जिल्द २, पृ० ३०१-०४), उद्धृत पाण्डेय, वी०सी०-पूर्वोक्त, पृ० २७७.

१६. थापर, रोमिला - भारत का इतिहास (प्राचीन भारत), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९८९, पृ० ५९-६०.
१७. बाशम, ए०एल० - अद्भुत भारत, पृ० २११.
१८. थापर, रोमिला - भारत का इतिहास (प्राचीन भारत), पृ० ५७-५८.
१९. सूत्रकृतांगसूत्र (जैकोबी-जैन सूत्र जिल्द २, पृ० ३०१), उद्घृत पाण्डेय, वी०सी० - पूर्वोक्त, पृ० २७७, बाशम, ए०एल० (सम्पादन) - ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १०१, मजूमदार, आर०सी० - पूर्वोक्त, पृ० १४२-४३, पांडे, विशम्भरनाथ - पूर्वोक्त, पृ० ८६.
२०. उत्तराध्ययनसूत्र, २५.३३



सामाजिक नैतिकता के सन्दर्भ में कर्म-सिद्धान्त का स्वरूप

(गीता एवं जैन दर्शन की दृष्टि में)

डॉ० श्याम किशोर सिंह*

गीता और जैन साहित्य में निहित उपदेशों का सार्वभौमिक महत्त्व है। कर्म-सिद्धान्त की सार्वभौमिकता की चर्चा डॉ० राधाकृष्णन् एवं श्री अरविन्द आदि दार्शनिकों ने भी की है। आचार दर्शन, कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही समाज में नैतिकता के प्रति निष्ठा जागृत कर सकता है। डॉ० सागरमल जैन ने कहा है कि सामान्य मनुष्य को नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मों की शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होने की धारणा में उसका विश्वास बना रहे। कोई भी आचार दर्शन इस सिद्धान्त की स्थापना किये बिना जनसाधारण को नैतिकता के प्रति आस्थावान बनाये रखने में सफल नहीं होता।^१ कर्म-सिद्धान्त के अनुसार अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों एक-दूसरे से जुड़े हैं। यदि हम भविष्य जीवन को सुखी बनाना चाहते हैं तो इसके लिए वर्तमान जीवन में ही प्रयत्नशील रहना आवश्यक है। अतीत के फलस्वरूप ही वर्तमान जीवन है। दूसरे शब्दों में कहें तो वैज्ञानिक जगत् में तथ्यों को विवेचित करने के लिए जो स्थान 'कार्यकारण' सिद्धान्त का है, नैतिकता के क्षेत्र में वही स्थान 'कर्म-सिद्धान्त' का है। जिस प्रकार कार्यकारण-सिद्धान्त के परित्याग करने पर वैज्ञानिक गवेषणाएँ निरर्थक हैं, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त से विहीन आचार दर्शन भी अर्थशून्य होता है। विचारणीय तथ्य यह है कि कर्म-सिद्धान्त और कार्यकारण-सिद्धान्त में साम्य होते हुए भी विषयों की प्रकृति के कारण दोनों में कुछ अन्तर है। भौतिक जगत् में कार्यकारण-सिद्धान्त का विषय जड़ पदार्थ है, जबकि कर्म सिद्धान्त का विषय चेतन है। अतः उसमें जितनी नियतता होती है वैसी नियतता प्राणी जगत् में लागू होने वाले कर्म-सिद्धान्त में नहीं हो सकती। यही कारण है कि कर्म-सिद्धान्त में नियतता और स्वतंत्रता का समुचित संयोग होता है।^२

गीता जो वैदिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है, में कर्म की विस्तृत विवेचना हुई है। गीता की लोकप्रियता के कई कारण हैं, लेकिन सबसे प्रमुख कारण है मानव जीवन से सम्बन्धित जटिल से जटिल समस्याओं का विवेचन और शाश्वत समाधान का प्रस्तुतीकरण। गीता हिन्दू धर्म का ही नहीं, मानव धर्म का ग्रन्थ है। मानव धर्म, मानव आचरण पर नियंत्रण रखता है, उसका नियमन और परिचालन करता है, अतः गीता का प्रयोजन भी मानव आचरण से सम्बन्धित समस्याओं का निराकरण और न्यायपूर्ण जीवन को प्रेरणा देना है। प्रत्यक्ष रूप से यह एक नैतिक ग्रंथ है।^३

जितने भी साहित्य हैं चाहे वे वैदिक साहित्य हों या जैन-बौद्ध, सभी के केन्द्र में जीवन-मूल्य, आदर्श और परम लक्ष्य को विवेचित किया गया है। गीता आचरण की जिन समस्याओं के निदान द्वारा सामाजिक समस्याओं का हल खोजती है, उन्हीं समस्याओं के समाधान जैन साहित्य में भी मिलते हैं। वे भी कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक अर्थात् जीवन की विकट परिस्थितियों में क्या करें और क्या न करें की किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में सद्मार्ग की ओर चलने को प्रेरित करते हैं। गीता ने व्यक्ति और समाज का पूर्ण समन्वय करके नैतिक जीवन के लिए अपना अकाट्य स्थान निर्धारित किया है तो जैन मनीषियों ने भी आचार दर्शन के सच्चे सिद्धान्तों द्वारा सामाजिक समन्वय का प्रयास किया है। गीता के केन्द्र में कर्ममार्ग है, तो जैन साहित्य का भी लक्ष्य व्यक्ति को कर्मपथ के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कराना है। गीता जहाँ लोक-संग्रह की भावना को ध्यान में रखकर गहन एवं सुबोध चिंतन द्वारा समस्त एकांगी प्रवृत्तियों का उच्छेद कर एक समग्रपरक कर्म की अवधारणा का प्रतिपादन करती है, वहीं जैन मान्यता परस्पर सापेक्ष रूप से कार्य करने की व्याख्या करने में विश्वास करती है। दूसरी भाषा में कहें तो

* व्याख्याता, दर्शन विभाग, अवधबिहारी सिंह महाविद्यालय, लालगंज, (वैशाली)

मानवीय व्यवहार की प्रेरणा और आचरण के रूप में विभिन्न नियतिवादी तत्त्व और मनुष्य के पुरुषार्थ दोनों ही कार्य करते हैं। इन दोनों के द्वारा ही नैतिक उत्तरदायित्व एवं नैतिक जीवन के प्रेरक की सफल व्याख्या की जा सकती है।

साहित्यिक दृष्टि से जैसे गीता कर्मप्रधान ग्रन्थ है उसी प्रकार जैन वाङ्मय में कर्म-साहित्य भरे पड़े हैं। कर्म साहित्य की दृष्टि से जैन परम्परा में 'कर्म-प्रकृति' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है जो कर्मविषय सामग्री की विवेचना करता है। दर्शन और चिन्तन में पं० सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि 'यद्यपि वैदिक साहित्य तथा बौद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार हैं, पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत जैन दर्शन में कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अतिविस्तृत हैं। अतएव उन विचारों का प्रतिपादक शास्त्र, जिसे 'कर्मशास्त्र' या 'कर्मविषयक' साहित्य कहते हैं, उसने जैन साहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक रखा है।^{१०} यदि आगमिक दृष्टि से देखें तो कर्म-सिद्धान्त की विवेचना आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, प्रश्नव्याकरणसूत्र तथा विपाकसूत्र आदि में यत्र-तत्र मिलती है जो अति संक्षिप्त है। लेकिन स्थानांगसूत्र^{११}, समवायांगसूत्र^{१२}, भगवतीसूत्र^{१३}, प्रज्ञापनासूत्र^{१४}, उत्तराध्ययनसूत्र^{१५} आदि ग्रन्थों में कर्म-सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना हुई है।

कर्म विषयक जो स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें श्वेताम्बर ग्रन्थों के नाम हैं- शिवशर्मसूरि विरचित कम्मपयडि, कर्मस्तव (कर्ता अज्ञात), बन्धस्वामित्व (कर्ता अज्ञात), जिनवल्लभगणि विरचित 'षट्शीति', देवेन्द्रसूरि कृत 'कर्मग्रन्थ' आदि तथा दिगम्बर ग्रन्थों में 'षट्खण्डागम', 'कसायपाहुडसुत्त', 'जयधवला', 'गोम्मटसार', कर्मप्रकृति आदि कर्म-साहित्य के रूप में मान्य हैं।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार नैतिक जगत् में अनिश्चित एवं मनमाना कुछ नहीं है। हम वही काटते हैं, जो बोते हैं, पुण्य के बीज से पुण्य की खेती फलेगी। पाप का फल पाप ही होता है। छोटा से छोटा कर्म मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव डालता है। कर्म के उलंघन का प्रयत्न करना ठीक उसी प्रकार निष्फल होता है जिस प्रकार मनुष्य द्वारा अपनी छाया को लाँघना।^{१६} जैसे मनुष्य की छाया हमेशा उसके साथ रहती है, उसी तरह कर्म भी हर जीवधारी के साथ जुड़े रहते हैं, चाहे वे कर्म भले हों या बुरे।

परन्तु सुकर्मों द्वारा मनुष्य पुण्यात्मा एवं पाप कर्मों से पापी होता है।^{१७} उन्नति एवं अवनति उसके प्रयत्न पर निर्भर है, वह अपने भाग्य का निर्माता स्वयं ही है। वह अपने आप ही अपने को बन्धन में डालता है, जैसे एक पक्षी स्वयं ही अपने लिए घोंसला बनाता है।^{१८} जो कुछ हमें डरावना प्रतीत होता है वह अन्धकारपूर्ण भाग्य नहीं, वरन् हमारे अपने ही पूर्वकृत कर्म हैं। हम मृत्यु चक्र के शिकार नहीं हैं। दुःख हमें पाप कर्मों के पारिश्रमिक रूप में मिलता है। जीव को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। कर्म और फल का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जैन एवं गीता दोनों ही यह मानकर चलते हैं कि यदि जीव अपने किये हुए कर्मों का भोग वर्तमान जीवन में नहीं करता है तो उसे अपने कर्मों के भोग के लिए भावी जन्म लेना पड़ता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि कामभोगों में आसक्त व्यक्ति कर्मों का संचय करते रहते हैं और उन कर्मों के फलस्वरूप पुनः-पुनः जन्म धारण करते रहते हैं।^{१९} सूत्रकृतांगसूत्र में भी कहा गया है कि जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसे उसी के अनुरूप भावी जन्म में फल मिलता है।^{२०}

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकता। मानसिक शारीरिक कर्म तो निरंतर चलते ही रहते हैं। कर्म के बिना जीवन का निर्वाह सम्भव नहीं होता। गीता में तीन प्रकार के कर्मों की चर्चा की गई है जो शुभ-अशुभ कर्मों के आधार पर विभाजित हैं^{२१}- कर्म- फलाकांक्षा से की गई कोई भी शुभ क्रिया कर्म है। विकर्म- वासनापूर्ति हेतु किये गये अशुभ कर्म विकर्म कहलाते हैं। अकर्म- फलासक्ति से रहित कर्तव्य भाव से किया गया कर्म अकर्म है। जैन परम्परा में भी तीन प्रकार के कर्मों की व्याख्या की गई है- पुण्य कर्म, पाप कर्म तथा ईर्यापथिक कर्म। शुभास्रव को पुण्य कर्म कहते हैं। आचार्य अभयदेव ने कहा है कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।^{२२} अशुभास्रव को पाप कहते हैं। जैन नैतिक विचारणा में पाप और पुण्य दोनों को साधक के लिए हेय माना गया है, क्योंकि दोनों ही बन्धन के कारण हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जैन विचारणा एक ओर यह कहती है कि पुण्य कर्म आत्मा को पवित्र करते हैं और दूसरी ओर वे त्याज्य भी हैं। इसके पीछे जैन चिन्तकों का मानना है कि पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन के कारण हैं। व्यक्ति में नैतिक पूर्णता तब आती है जब वह शुभ-अशुभ के भेद से ऊपर उठ जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा

है कि अशुभ कर्म पाप और शुभ कर्म पुण्य कहे जाते हैं, फिर भी पुण्य कर्म संसार का कारण है जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लौह बेड़ी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभ-अशुभ कर्म बन्धन के कारण हैं।^{१०} लेकिन शुभ कर्म तभी तक बन्धन के कारण हैं जब तक हमारी उनके प्रति आसक्ति होती है। जब वही शुभ कर्म अनासक्त भाव से किये जाते हैं तब वे शुद्ध कर्म बन जाते हैं और सही माने में वही अकर्म है। जैन चिन्तन का यह अकर्म या ईर्यापथिक कर्म ही गीता का अनासक्त कर्म है।

कर्म की एक दूसरी व्याख्या जिसमें गुण की प्रधानता है और जिसके आधार पर भारतीय परम्परा में वर्ण-व्यवस्था (स्वधर्म) की स्थापना की गई है, वैदिक और जैन दोनों परम्पराओं में मिलती है। वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' में मिलता है, जहाँ विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उदर से वैश्य, पैर से शूद्र को उत्पन्न बताया गया है।^{१८} ठीक इसी तरह से महाभारत के 'शान्तिपर्व' में भी इसका उल्लेख मिलता है।^{१९} किन्तु गीता में आकर वर्ण-व्यवस्था में गुण-कर्म की प्रधानता हो गई है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का निर्माण गुण और कर्म-भेद के आधार पर निर्धारित किया गया है - 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।'^{२०}

गीता में वर्णों का जो विभाजन है उसके आधार में 'स्वधर्म' केन्द्रित है। 'स्वधर्म' स्वभाव कर्म है। कहीं-कहीं तो इसे 'सहज कर्म' और 'नियत कर्म' भी कहा गया है।^{२१} मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ नैतिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। लेकिन जब तक हम गीता की इस वर्ण-व्यवस्था को जाति-व्यवस्था से जोड़कर विचार करते रहेंगे तब तक सामाजिक न्याय संभव नहीं है। जब हम गीता में विवेचित लोक संग्रहात्मक दृष्टि पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि वहाँ नैतिकता के सामाजिक और वैयक्तिक दोनों पक्षों की विवेचना हुई है, अर्थात् इसके नैतिक दर्शन से व्यक्ति को जहाँ एक ओर पूर्णता, स्वतंत्रता, आप्तकामता की प्राप्ति होती है, वहीं दूसरी ओर समाज की सुरक्षा, सामाजिक पूर्णता एवं लोक कल्याण भी होता है। स्थितप्रज्ञ, गुणातीत या भक्त की अवस्था को व्यक्ति निष्काम की स्थिति से प्राप्त करता है और लोकसंग्रह के द्वारा वह सामाजिक नैतिकता की पूर्णता प्राप्त करता है। इसमें यह तथ्य निहित है कि निष्काम भाव को प्राप्त किये बिना लोकसंग्रह का कार्य नहीं किया जा

सकता। जो भी सामाजिक कार्य अन्य लोगों द्वारा होते हैं उनमें स्वार्थ-दृष्टि रहती है, परन्तु गीता की मान्यता है कि लोकसंग्रही वही हो सकता है जो गुणातीत या स्थितप्रज्ञ है। गीता का यह सर्वोच्च नैतिक दर्शन है। सामाजिक निर्माण और सुरक्षा की दृष्टि से ही विभिन्न स्वभाव और प्रकृति वालों के लिए गीता में सामाजिक नैतिकता का निर्माण किया गया है तथा कहा गया है कि व्यक्ति को 'स्वधर्म' का पालन चाहे जितनी भी कठिनाई क्यों न हो, अवश्य करना चाहिये। परधर्म अर्थात् जो अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुरूप कर्म नहीं है, सरल और सुलभ होते हुए भी भयावह है।^{२२} गीता के स्वधर्म अथवा स्वभाव धर्म को परम्परागत जाति धर्म से बिल्कुल अलग समझना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था को जन्मना मान लेना गीता के स्वभाव धर्म से विपरीत सिद्ध होगा।

इससे स्पष्ट है कि गीता के केन्द्र में कर्ममार्ग ही है। नैतिक दृष्टि से देखें तो गीता का मूल विषय है कर्मफल त्याग, निष्काम कर्म तथा उसका यथार्थ आदर्श है - लोकसंग्रह अथवा जागतिक एकता। भगवान् कृष्ण ने कहा है कि कर्म करने का कोई प्रयोजन न रह गया हो अर्थात् जीवन्मुक्त हो गया हो, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब न रह गया हो उसे भी लोकहित में कर्म करते रहना चाहिए।^{२३} अर्जुन से कहते हैं- हे अर्जुन! लोकसंग्रह के लिए तुझे कर्म करना उचित है।^{२४}

जैन परम्परा कर्मप्रधान है अतः यह स्वाभाविक है कि यहाँ वर्ण-व्यवस्था कर्माधारित ही होगी। अभिधानराजेन्द्र कोश में कहा गया है कि शारीरिक विभिन्नता के आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण मात्र स्थावर, पशु-पक्षी आदि के सन्दर्भ में लागू होता है किन्तु मनुष्यों के सम्बन्ध में नहीं।^{२५} उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा गया है कि कर्म से व्यक्ति ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।^{२६} डॉ० सागरमल जैन का मानना है कि जैन विचारणा यह तो स्वीकार करती है कि लोक-व्यवहार या आजीविका हेतु किये गये कर्म (व्यवसाय) के आधार पर समाज का वर्गीकरण किया जा सकता है, लेकिन इस व्यावसायिक या सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में किये जाने वाले विभिन्न कर्मों के वर्गीकरण के आधार पर किसी वर्ग की श्रेष्ठता या हीनता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता या हीनता का आधार व्यावसायिक कर्म नहीं है, वरन् व्यक्ति की नैतिक योग्यता या सदगुणों का विकास है।^{२७}

सामाजिक नैतिकता के अन्तर्गत स्वहित और लोकहित का द्वन्द्व हमेशा से प्रश्नचिह्न बना रहा है कि कर्म-व्यवस्था के अनुसार कर्म करते हुए व्यक्ति को स्वहित करना चाहिए या परहित (लोकमंगल)। इतना तो स्पष्ट है कि स्वहित को भारतीय परम्परा में कभी भी श्रेयस्कर नहीं माना गया है। जैन चिन्तन में भी स्वार्थ और परार्थ पर विचार किया गया है। स्वार्थ आत्मरक्षण है तो परार्थ आत्मत्याग। ऐसा कहा जाता है कि जैन परम्परा स्वहित पर अधिक बल देती। जो लोग ऐसा कहते हैं वे संभवतः इस मान्यता को लेकर उलझन की स्थिति में हैं- आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुण्ठन पर ही लोकहित फलित होता हो, तो वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।^{१८} लेकिन ऐसा नहीं है यदि ऐसा होता तो तीर्थकर के द्वारा तीर्थप्रवर्तन और संघ-संस्थापना का कोई औचित्य नहीं रहता, क्योंकि कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात्

केवली के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। फिर भी वह करता है क्योंकि आत्मकल्याण के साथ-साथ लोककल्याण भी उसका उद्देश्य होता है। तीर्थकर नमस्कारसूत्र में जिसे नमोत्थुण के नाम से भी पुकारा जाता है। में तीर्थकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो जैन धर्म के लोकहितकारिणी मन्तव्य को निर्दिष्ट करता है।

अतः इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या के क्रम में गीता एवं जैन साहित्य मानव जीवन के लिए अनासक्त कर्म को प्रस्तुत कर सामाजिक आदर्श व कर्तव्य भावना को सुदृढ़ करते हैं। फलाकांक्षा रहित कर्म जीवन में शांति और संतोष प्रदान करता है और यही वास्तविक मानवीय अवस्था है। इसी में संतुलन, शांति और आनन्द है। इसी आधार पर गीता और जैन साहित्य सामाजिक और व्यक्तिगत नैतिकता को समन्वित करते हैं।

संदर्भ :

१. जैन, सागरमल, जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१, पृ०-२९५
२. वही, पृ०-२९६
३. डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० ४९०.
४. संघवी, पं० सुखलाल, दर्शन और चिन्तन, पृ०-२१९
५. स्थानांगसूत्र, २/४/१०५, ३/१/१२५; ४/२/२९६
६. समवायांगसूत्र, २/२, ४२/२५१, ५८/३०४
७. भगवतीसूत्र, १/१/१०, १/१/१, १/१/१४, १/३/१२६, १/३/१२८, १/४/१४६-१५३
८. प्रज्ञापनासूत्र, २३/२, २३/४, २३/६-१७
९. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/१-१५
१०. प्रो० हिरियन्ना, आउट लाइन्स ऑफ इंडियन फिलासॉफी, पृ० ७९.
११. ब्रैडले, एथिकल स्टडीज, पृ० ५३.
१२. प्रो० वेंकटरमण, फिलासाफिकल क्वार्टरली, अप्रैल १९३२, पृ० ७२.
१३. डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० २०१.
१४. वृहदारण्यक उपनिषद्, ३:२, १३.
१५. मैत्रायणी उपनिषद्, ३:२.

१६. आचारांगसूत्र, २/३/१३
१७. सूत्रकृतांगसूत्र, १/५/२/२३
१८. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः। गीता, ४/१७
१९. स्थानांग, टीका, १/११-१२
२०. समयसार, १४५-१४६
२१. ऋग्वेद, १०, ९०, १२.
२२. महाभारत, शान्तिपर्व, १२२, ४-५.
२३. गीता, ४/१३.
२४. वही, १८/४१-४८.
२५. वही, ३/३५.
२६. गीता, ३/१८
२७. वही, ३/२०
२८. अभिधानराजेन्द्र कोश, भाग-४, पृ०-१४४१
२९. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/३३
३०. जैन, सागरमल, जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृ०-१७७
३१. आत्मसाधना-संग्रह, पृ०-४४१

भगवतीसूत्र में वर्णित परमाणु विज्ञान

ओम प्रकाश सिंह*

द्वादशांगी में भगवतीसूत्र का पाँचवां स्थान है। यह आगम प्रश्नोत्तर शैली में लिखा हुआ है। प्रश्नोत्तर की संख्या के विषय में आचार्यों के बीच मतभेद है। समवायांगसूत्र और नन्दीसूत्र के अनुसार भगवतीसूत्र में ३६००० प्रश्नों का व्याकरण है तो दिगम्बर परम्परा के आचार्य अकलंक, आचार्य पुष्पदन्त, आचार्य भूतबलि तथा आचार्य गुणधर के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में ६०००० प्रश्नों का व्याकरण है।

अन्य आगमों की अपेक्षा भगवतीसूत्र अधिक विशाल है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इसमें विविधता है। ज्ञान-विज्ञान का शायद ही ऐसा कोई पहलू हो जिसकी चर्चा इसमें न की गई हो। विश्व विद्या की दृष्टि से कोई ऐसी विद्या नहीं है जिसकी चर्चा इस आगम में नहीं हुई हो। इस दृष्टि से इसे प्राचीन जैन ज्ञान का विश्वकोश कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। समवायांगसूत्र में यह बताया गया है कि अनेक देवताओं, राजाओं और राजऋषियों ने भगवान् महावीर से विविध प्रकार के प्रश्न पूछे, भगवान् ने उन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया।

प्रस्तुत आगम एक श्रुतस्कन्ध, एक सौ एक अध्ययन, दस हजार उद्देशनकाल, दस हजार समुद्देशन काल, छत्तीस हजार प्रश्न और उनके उत्तर रूप में निबद्ध है।

भगवतीसूत्र का प्रारम्भ गणधर गौतम की जिज्ञासा से होता है। इसमें गौतम की जिज्ञासा है तो भगवान् महावीर का समाधान है। उपनिषद् कालीन उद्दालक के समक्ष जो स्थान श्वेतकेतु का है, गीता के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण के समक्ष जो स्थान अर्जुन का है, वही स्थान भगवान् महावीर के समक्ष गणधर गौतम का है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से भगवतीसूत्र का क्षेत्र व्यापक है। अध्यात्मविद्या और तत्त्वविद्या से लेकर सृष्टिविद्या, जीव विज्ञान, परमाणु विज्ञान, शरीर विज्ञान तक के अनेकानेक

गम्भीर विषयों की चर्चा इस आगम में विद्यमान है। जिस प्रकार वेदों में वर्तमान के अनेक जटिल विषयों के आदिसूत्र खोजे जाते हैं उसी प्रकार भगवतीसूत्र में परमाणु विज्ञान, शरीर विज्ञान, औषधि विज्ञान आदि के अनेक आधारभूत सिद्धान्त खोजे जा सकते हैं।

परमाणु विज्ञान

आज के वैज्ञानिक अणु के सम्बन्ध में अन्वेषण करने में जुटे हुये हैं, किन्तु अणु के सम्बन्ध में जिस सूक्ष्मता से भगवान् महावीर ने चिन्तन किया है उतनी सूक्ष्मता से आधुनिक वैज्ञानिक भी नहीं कर पाये हैं। आज का वैज्ञानिक जिसे अणु कहता है, भगवान् महावीर ने उसे स्कन्ध कहा है। महावीर की दृष्टि से अणु बहुत ही सूक्ष्म है। परमाणु पुद्गल अविभाज्य है, अछेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है। ऐसा कोई उपाय या विचार नहीं है जिससे उसका विभाग किया जा सके, अग्नि उसे जला नहीं सकती, मेघ उसे गीला नहीं कर सकता, नदी उसे बहा नहीं सकती। वह न तो लम्बा है और न ही चौड़ा है और न ही गहरा है। वह न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। जिसका आदि अन्त एक हो, जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, अविभागी है, ऐसा द्रव्य परमाणु है।^१

परमाणु की शाश्वतता या अशाश्वतता के विषय में गौतम की जिज्ञासा को शान्त करते हुये भगवान् महावीर ने बताया कि परमाणु शाश्वत तथा अशाश्वत दोनों है, क्योंकि द्रव्य दृष्टि से परमाणु शाश्वत है, वह हमेशा रहा है और रहेगा, किन्तु पर्याय दृष्टि से परमाणु अशाश्वत है। पर्याय हमेशा परिवर्तनशील है उसमें परिवर्तन होता रहता है।^२

परमाणु को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है।

१. परमाणु समस्त भौतिक अस्तित्व का आधार है।
२. अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य, निर्विभागी पुद्गल खण्ड को परमाणु कहते हैं।

३. परमाणु को एक विशुद्ध ज्यामितिक बिन्दु के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि उसमें न तो लम्बाई होती है न चौड़ाई होती है तथा न ही गहराई होती है। वह अन्तिम शाश्वत इकाई है।
४. परमाणु वह है जिसका आदि, मध्य और अन्त एक ही है।
५. परमाणु ५ वर्णों में से एक वर्ण है। इसके स्वरूप को निम्न प्रकार से समझाया गया है-
 - क. परमाणु समस्त भौतिक जगत् का मूलकारण है।
 - ख. परमाणु भौतिक जगत् की अन्तिम परिणति है।
 - ग. वह सूक्ष्म है इन्द्रियग्राह्य नहीं है।
 - घ. वह नित्य है।

परमाणु के गुण

सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु दोनों में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण) होता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा है कि पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुण वाला हो जाता है और अनन्त गुणवाला परमाणु एक गुण वाला हो जाता है।^१

भगवतीसूत्र के प्रथम शतक के दशवें उद्देशक में दो से पांच परमाणु पुद्गलों का विस्तृत वर्णन मिलता है, दो परमाणु नहीं चिपकते हैं, किन्तु तीन एवं पांच परमाणु पुद्गल चिपक जाते हैं।

द्वितीय शतक के द्वितीय उद्देशक के आठवें सूत्र में पुद्गल परमाणु की मुख्य आठ वर्गणाओं का वर्णन है-

१. औदारिक वर्गणा, २. वैक्रिय वर्गणा, ३. आहार वर्गणा, ४. तैजस वर्गणा, ५. कार्मण वर्गणा, ६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा, ७. वचन वर्गणा, और ८. मन वर्गणा। इसी शतक के दसवें उद्देशक में पुद्गल के चार प्रकार बताये गये हैं।

पंचम शतक के सप्तम उद्देशक में सकम्प और अकम्प की चर्चा की गयी है। इसी शतक के आठवें उद्देशक में काल की चर्चा की गयी है। सप्तम उद्देशक में परमाणु को अभेद्य अविभाज्य कहा गया है।

अष्टम शतक के प्रथम उद्देशक में पुद्गल के भेदों की चर्चा की गयी है।

एकादश शतक के दशवें उद्देशक में जीव-अजीव की चर्चा परमाणु के रूप में की गयी है।

द्वादश शतक के द्वितीय उद्देशक में परमाणु पुद्गल की चर्चा है। चतुर्थ उद्देशक में दो से दस परमाणु पुद्गलों के संयोग व विभाग का निरूपण पाया जाता है। संख्यात तथा असंख्यात परमाणु पुद्गलों का निष्पक्ष संयोग-विभाग निरूपण तथा अनन्त परमाणु पुद्गलों के संयोग, परमाणु पुद्गल परिवर्तन आदि की विवेचना की गई है। सातवें उद्देशक में लोक में परमाणु मात्र प्रदेश में भी जीव के जन्म-मरण की चर्चा की गयी है।

चतुर्दश शतक के चतुर्थ उद्देशक में परमाणु-पुद्गल की शाश्वतता-अशाश्वतता एवं चरमता-अचरमता का निरूपण किया गया है। इसी शतक के सातवें उद्देशक में परमाणु-पुद्गल की तुल्यता का वर्णन मिलता है। दसवें उद्देशक में केवलज्ञानी के सन्दर्भ में परमाणु पुद्गल की चर्चा की गयी है।

षोडश शतक के अष्टम उद्देशक में परमाणु की एक समय में लोक के पूर्व-पश्चिम आदि चरमान्त तक गति के सामर्थ्य की विवेचना की गयी है।

अष्टदश शतक के उद्देशक आठ में गणधर गौतम और भगवान् के बीच परमाणु के विषय में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उनका वर्णन मिलता है।

विंशति शतक के पंचम उद्देशक में परमाणु-पुद्गल से लेकर दो-प्रदेशी, दस-प्रदेशी तथा संख्यात-असंख्यात अनन्त प्रदेशी स्कन्ध में पाये जाने वाले वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के विविध विकल्पों की प्रारूपणा की गयी है। अन्त में द्वय क्षेत्र काल-भाव विषयक परमाणु चतुष्टय के विविध प्रकारों का वर्णन मिलता है।

पंचविंश शतक के द्वितीय उद्देशक में लोक के एक प्रदेश में पुद्गलों के चय-अपचय का निरूपण किया गया है। तीसरे उद्देशक में परमाणु-पुद्गलों की गति आकाश प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार या उसके विपरीत होती है, इसका वर्णन मिलता है। चौथे उद्देशक में परमाणु-पुद्गल से अनन्त प्रदेशी स्कन्धों तक ही द्रव्य प्रदेशार्थ से यथायोग्य बहुत्व की प्रारूपणा परमाणु से अनन्त प्रदेशी, सकम्प-निष्कम्प स्कन्ध तक के अल्प-बहुत्व की चर्चा, परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध

तक देशकम्प सर्वकम्प निष्कम्पता की प्ररूपणा, तथा सर्वदेश कम्पक-निष्कम्पक परमाणु से अनन्त प्रदेशी स्कन्धों के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवतीसूत्र में अतिसूक्ष्मता से परमाणु विवेचन किया गया है। वर्तमान में जिस परमाणु की चर्चा में सम्पूर्ण वैज्ञानिक जगत् संलग्न है, उस परमाणु की

चर्चा हमारे आगमों में भरी पड़ी है। आवश्यकता है उन्हें दूढ़कर जनमानस के समक्ष प्रस्तुत करने की। आज विज्ञान जिसे प्राप्त कर अपनी उपलब्धि मान रहा है वह उपलब्धि तो भगवान् महावीर ने लगभग २६०० वर्ष पूर्व ही जनमानस को प्रदान कर दी थी। यह हमारी कमी कहें या स्वार्थता कि हमने उसे प्रचारित-प्रसारित करने का प्रयास नहीं किया।

सन्दर्भ :

१. भगवतीसूत्र : एक परिशीलन, पृष्ठ ७
२. भगवतीसूत्र, शतक १४, उद्देशक ४, सूत्र ५.

३. गेलड़ा, डॉ० महावीर राज, जैन विद्या और विज्ञान, पृ०-११६



उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित पंचमहाव्रत

डॉ० शर्मिला जैन*

पंचमहाव्रत सम्पूर्ण श्रमणाचार की आधारशिला है। पंचमहाव्रत ही श्रमण-आचार का वह केन्द्र-बिन्दु है, जहाँ से अनेक क्रियायें विभिन्न नियमों-उपनियमों के रूप में प्रसारित होती हैं अथवा संगठित होकर केन्द्ररूपी पंचमहाव्रत की सुरक्षा और विकास के विस्तृत आयाम प्रस्तुत करती हैं। पंचमहाव्रतों को श्रमण जीवन भर के लिए मन-वचन और काय से धारण करता है और इनकी सर्वाशितः सुरक्षा करता हुआ निर्वाण की भूमिका तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है। जैन श्रावक की अपेक्षा जैन श्रमण हिंसा आदि का पूर्णतः त्याग नवकोटि^१ से करता है। प्रस्तुत आलेख में हम उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार पंचमहाव्रत की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं-^२

ये व्रत इस प्रकार हैं -

१. अहिंसा- सब प्रकार के प्राणातिपात से विरमण।
२. सत्य- सब प्रकार के मृषावाद से विरमण।
३. अचौर्य- सब प्रकार के अदत्तादान से विरमण।
४. ब्रह्मचर्य- सब प्रकार के यौन-सम्बन्धों से विरमण और
५. अपरिग्रह- सब प्रकार के धनादि-संग्रह से विरमण।

इन पांच व्रतों का सूक्ष्म रूप से पालन करना महाव्रत कहलाता है और मुनि के लिए इनका पालन अनिवार्य है। गृहस्थ उपासक के लिए ये ही अणुव्रत के रूप में विहित हैं। अहिंसा

त्रस एवं स्थावर जीवों को मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना से किसी भी परिस्थिति में दुःखत न करना अहिंसा महाव्रत है।^३ मन में दूसरे को पीड़ित करने की सोचना तथा किसी के द्वारा दूसरे को पीड़ित करने पर उसका समर्थन करना भी हिंसा है। अतः ग्रंथ में कहा गया है कि जो प्राणवध का अनुमोदन करते हैं वे भी सभी दुःखों के फल

भोगे बिना नहीं रह सकते हैं।^४ भगवान् अरिष्टनेमि अपने विवाह के अवसर पर जब विवाह की खुशी में खाने के लिए मारे जानेवाले पशु-पक्षियों को देखते हैं, तो कहते हैं कि यह लोक मेरे लिए सुखकर नहीं है।^५ क्योंकि अज्ञात में हुई हिंसा भी घातक है, अतः प्रत्येक प्राणी को हिंसावृत्ति एवं वैरभाव छोड़कर जीवों की रक्षा करनी चाहिए।^६

अहिंसा-व्रत का पालन करने के लिए अपना अहित करने वाले के प्रति भी क्षमाभाव रखना, उसे अभयदान देना, सदा विश्वमैत्री, विश्व-कल्याण की भावना रखना तथा वध करने को तत्पर होने पर भी उसके प्रति जरा भी क्रोध न करना आदि आवश्यक है।^७ इसके अतिरिक्त गृह-निर्माण, शिल्पकला, क्रय-विक्रय, अग्नि जलाना आदि क्रियायें न तो स्वयं करनी चाहिए और न दूसरे से करानी चाहिए, क्योंकि इनके करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा का दोष लगता है।^८ साधु को भिक्षा लेते समय इन सब दोषों से बचना आवश्यक बतलाया गया है।^९ मल-मूत्र आदि का त्याग करते समय भी सूक्ष्म जीवों का हिंसा न हो इसलिए बहुत नीचे तक अचित्त भूमि के उपयोग का निर्देश किया गया है।^{१०} इसीलिए ग्रन्थ में इस व्रत के पालन करने को अत्यंत कठिन कहा गया है।^{११} तथा गौतम को लक्ष्य करके प्रमादरहित रहने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि प्रमाद से विवेकज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है और जब तक विवेकज्ञान नहीं होगा तब तक अहिंसा का पालन करना संभव नहीं है।^{१२} उत्तराध्ययन में अहिंसा-व्रत का पालन करने वाले को ब्राह्मण कहा गया है तथा इसका पालन न करने वाले के लिए नरक की प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है।^{१३} इस प्रकार इस व्रत का स्थान पंचमहाव्रतों में प्रथम और श्रेष्ठ है।

सत्य

द्वितीय महाव्रत 'सर्व-मृषावाद-विरमण' है, क्योंकि असत्य भाषण आत्मा के लिए पतन का कारण और प्राणातिपात

* व्याख्याता, दर्शनशास्त्र, दानापुर डिग्री महिला महाविद्यालय, दानापुर, पटना

का पोषक है, जिससे अनेक दोषों का जन्म एवं पापकर्म का बन्ध होता है, इसलिए श्रमण को प्रमाद, क्रोध, लोभ, हास्य एवं भय से झूठ न बोलकर उपयोगपूर्वक हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए, यही सत्य महाव्रत है।^{१४} असभ्य वचन जो दूसरे को कष्टकर हो ऐसा भी नहीं बोलना चाहिए।^{१५} इसमें भी अहिंसा महाव्रत की तरह कृत, कारित, अनुमोदना एवं मन, वचन, काय से झूठ न बोलने का अर्थ सन्निविष्ट है। 'अच्छा भोजन बना है', 'अच्छी तरह से पकाया गया है' इत्यादि प्रकार के सावद्य वचन तथा 'आज मैं यह कार्य अवश्य कर लूंगा', 'अवश्य ही ऐसा होगा' इस प्रकार की निश्चयात्मक वाणी बोलने का भी ग्रन्थ में निषेध है।^{१६} अतः सत्य महाव्रत का पालन अत्यन्त कठिन है।^{१७}

उत्तराध्ययन में सत्य वचन बोलने की क्रमिक तीन अवस्थायें बतलायी गयी हैं^{१८} - भाव सत्य, करण सत्य और योग सत्य।^{१९} इस तरह झूठ बोलनेवाला एक झूठ को छिपाने के लिए अन्य अनेक झूठ बोलता है और हिंसा, चोरी आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होता हुआ सुखी नहीं होता है।^{२०} सत्य बोलनेवाला जैसा बोलता है वैसा ही करता है और प्रामाणिक पुरुष होकर सुखी होता है।

अचौर्य

तृतीय महाव्रत की संज्ञा 'सर्व-अदत्तादान-विरमण' है, जिसके अंतर्गत श्रमण बिना दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता। किसी की गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई अथवा तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु को बिना स्वामी की आज्ञा के ग्रहण न करना अचौर्य महाव्रत है। मन, वचन, शरीर एवं कृत, कारित, अनुमोदना से इस व्रत का पालन करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जो वस्तु ग्रहण करे वह निरवद्य एवं निर्दोष हो।^{२१} अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए निरवद्य एवं निर्दोष विशेषण दिया गया है, क्योंकि सावद्य एवं सदोष वस्तु के ग्रहण करने में हिंसा का दोष लगता है। सभी सचित्त वस्तुओं को ग्रहण करना साधु के लिए निषेध माना गया है। इसलिए सचित्त वस्तु किसी के द्वारा दिये जाने पर भी उसे ग्रहण करना चोरी है। बतलाये गये व्रतों का ठीक से पालन न करना भी चोरी है। उत्तराध्ययन में कहा गया है - धनधान्यादि का ग्रहण करना नरक का हेतु है। इसलिए बिना आज्ञा के साधु तृणमात्र पदार्थ को भी अंगीकार न करे। लेकिन यह शरीर बिना आहार के रह

भी नहीं सकता, अतः साधु को गृहस्थ के द्वारा अपने पात्र में जो भोजन प्राप्त हो उसी का आहार करना चाहिए।^{२२}

ब्रह्मचर्य

कृत, कारित अनुमोदनापूर्वक देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी सब प्रकार के मैथुन-सेवन का मन, वचन, काय से त्याग करना ब्रह्मचर्य-महाव्रत है।^{२३} उत्तराध्ययन में इसके १८ भेदों का संकेत मिलता है।^{२४}

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए १० विशेष बातों का त्याग आवश्यक बतलाया गया है, जिन्हें ग्रंथ में समाधिस्थान का नाम दिया गया है।^{२५} इन दस समाधिस्थानों में अंतिम संग्रहात्मक समाधिस्थान को छोड़कर शेष ९ को टीकाकारों ने ब्रह्मचर्य की गुप्तियां (संरक्षिका) कहा है।^{२६} चित्त को एकाग्र करने के लिए इनका विशेष महत्त्व होने के कारण इन्हें समाधिस्थान कहा गया है। ये समाधिस्थान डॉ० सुदर्शनलाल जैन के द्वारा निम्नलिखित रूप में विभाजित किये गये हैं^{२७} -

१. स्त्री आदि से युक्त संकीर्ण स्थान के सेवन का

त्याग- जहाँ पर स्त्री, पशु, नपुंसक आदि का आवागमन सम्भव है, ऐसे स्थानों में, शून्य घरों में और जहाँ पर घरों की सन्धियां मिलती हों ऐसे स्थानों में तथा राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के संसर्ग में न आवे,^{२८} क्योंकि इन स्थानों में साधु का स्त्री के साथ संसर्ग में आना, जनता में संदेह का कारण बन सकता है। इसलिए उक्त स्थानों में संयमी पुरुष कभी न जायें। जैसे बिल्लियों के स्थान के पास चूहों का रहना योग्य नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के स्थान के समीप ब्रह्मचारी को निवास करना उचित नहीं है।^{२९} इसलिए मुनि को भी स्त्री, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में ही निवास करना उपयुक्त है।^{३०}

२. निर्ग्रन्थ साधु बार-बार स्त्रियों की कामजनक

कथा न कहे- साधु को स्त्रियों की बार-बार कथा नहीं करनी चाहिए और ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु को मन को आनन्द देनेवाली, कामराग को बढ़ानेवाली स्त्री-कथा का भी त्याग करना चाहिए।^{३१}

३. स्त्री आदि से युक्त शय्या और आराम का

त्याग- निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठकर कथा, वार्तालाप, परिचय आदि न करते हुए आकीर्ण और स्त्री-जन से रहित स्थान में रहना चाहिए,^{३२} क्योंकि तत्काल वहाँ पर बैठने से स्मृति आदि दोष लगने की संभावना रहती है।

४. कामराग स्त्रियों की मनोहर तथा मनोरम इन्द्रियों का त्याग- ब्रह्मचारी भिक्षु को स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग और संस्थान आदि का निरीक्षण करना तथा उनके साथ सुचारु भाषण करना और कटाक्षपूर्वक देखना आदि बातों को एवं चक्षुग्राह्य पर-विषयों को त्यागने के लिए कहा गया है^{३३} अतः इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर वीतरागतापूर्वक शुभध्यान करना चाहिए।^{३४} स्त्रियों के रूप, सौन्दर्य को देखकर पुरुष को उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए। इसीलिए ग्रन्थ में स्त्रियों को पंकभूत (दलदल) तथा राक्षसी कहा गया है।^{३५}

५. स्त्रियों के श्रोत्रग्राह्य शब्दों का निषेध- पंचम समाधिस्थान में स्त्रियों के कूजित, रूदित, हसित, स्तनित, कुपित आदि शब्दों को न सुनना जिनसे कामराग बढ़े, कारण कि इनसे मन की चंचलता में वृद्धि होती है और ब्रह्मचर्य में आघात पहुंचता है।^{३६}

६. स्त्रियों के साथ की हुई पूर्वरति और काम-क्रीड़ा का स्मरण न करे- स्त्री के साथ की गई पूर्वरति क्रीड़ा की स्मृति से निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा और सन्देहादि दोष उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, संयम का नाश एवं उन्माद की प्राप्ति होती है तथा दीर्घकालिक भयंकर रोगों का आक्रमण भी होता है।^{३७}

७. सरस आहार-पानी तथा प्रणीत रस-प्रकाम का त्याग- ग्रन्थ में ब्रह्मचारी के लिए रसों का अत्यन्त सेवन वर्जित है। कहा गया है जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष पर पक्षी आकर बैठते हैं और अनेक प्रकार से उसको कष्ट पहुँचाते हैं उसी प्रकार रससेवी (घी, दूध आदि रसवाले द्रव्यों के सेवन से) पुरुष को कामादि विषय अत्यन्त दुःखी करते हैं।^{३८}

८. अत्यधिक भोजन का त्याग- जैसे वायु के साथ मिलने से वन में लगी हुई अग्नि, शीघ्र शांत नहीं होती उसी प्रकार प्रमाण से अधिक भोजन करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि शान्त नहीं होती।^{३९} अतः खाने से यदि विकार की उत्पत्ति विशेष होती हो तो उसको त्यागकर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।^{४०}

९. शरीर की विभूषा का त्याग- ब्रह्मचर्य में अनुराग करनेवाले साधु को शरीर की विभूषा का त्याग करना चाहिए। अतः उसे उत्तम संस्कार करना, शरीर का मण्डन करना, केश आदि को संवारना छोड़ देना चाहिए।^{४१}

१०. शब्दादि पाँचों प्रकार के कामगुणों का त्याग- ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए इस दसवें समाधिस्थान में ब्रह्मचारीको शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच कामगुणों का सदा परित्याग करने के लिए कहा गया है, क्योंकि ये सब आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष के समान हैं।^{४२} इसलिए एकाग्र मनवाले साधु को समाधि की दृढ़ता के लिए इन दुर्जय काम-भोगों तथा शंका स्थानों को छोड़ देना चाहिए।^{४३}

इस प्रकार सम्यक्त्या सर्वथा मैथुन से निवृत्त चतुर्थ महाव्रत की आराधना एवं पालना करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष एवं किन्नर ये सभी ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं; क्योंकि वह दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।^{४४}

अपरिग्रह

धन, धान्य, भृत्य आदि जितने भी निर्जीव एवं सजीव पदार्थ हैं, उन सबका मन, वचन, काय से निर्मोही होकर ममत्व का त्याग करना अपरिग्रह या अकिंचन महाव्रत कहलाता है। अतः साधु किसी खाद्य पदार्थ का अंशमात्र भी संग्रह न करे तथा चतुर्विध आहार में से किसी आहार का भी संग्रह करके रात्रि को न रखे। सोने-चांदी आदि को ग्रहण करने की इच्छा भी मन से न करे।^{४५} इस तरह सभी प्रकार के धन-धान्यादि का त्याग करके तृणमात्र का भी संग्रह न करना अपरिग्रह है। अपरिग्रह को ही वीतरागता कहा गया है, क्योंकि जब तक विषयों में विराग नहीं होगा तब तक जीव अपरिग्रही नहीं हो सकता है। विषयों के प्रति राग या लोभ-वृद्धि का होना ही परिग्रह है। उत्तराध्ययन में कहा गया है, जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ होता है तथा लोभ के बढ़ने पर परिग्रह भी बढ़ता जाता है।^{४६} यह वीतरागता अतिविस्तृत सुस्पष्ट राजमार्ग है,^{४७} जिसके समक्ष अज्ञानमूलक जप-तप आदि सोलहवीं कला को भी नहीं पाया जा सकता है।^{४८} जो इन विषयों के प्रति ममत्व नहीं रखता है वह इस लोक में दुःखों से अलिप्त होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है तथा परलोक में देव या मुनि-पद को प्राप्त करता है।^{४९} परन्तु जो परिग्रह का त्याग नहीं करता है वह पाप-कर्मों को करके संसार में भ्रमण करता हुआ नरक में जाता है।^{५०}

इस तरह अपरिग्रह से तात्पर्य यद्यपि पूर्ण वीतरागता से है, परन्तु ब्रह्मचर्य-व्रत को इससे पृथक् कर देने के कारण

यह धन-धान्यादि अचेतन द्रव्य और दास, पशु आदि सचेतन द्रव्यों के त्यागरूप रह गया है।

पंचमहाव्रत श्रमण-जीवन की रीढ़ तथा जैनधर्म का प्राण है। इन व्रतों का सम्यक्पालन करनेवाला ही सच्चा श्रमण है। श्रमणाचार मूलतः अहिंसा प्रधान है, इसलिए कहा जाता है कि

पांचों महाव्रत अहिंसास्वरूप हैं। रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत भी अहिंसा-महाव्रत के अंतर्गत ही आ जाता है, फिर भी धर्माचार्यों ने इसे छठे व्रत के रूप में प्रतिपादित किया है।^{५२} अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चार प्रकारों में से किसी को भी रात्रि में ग्रहण करना गृहित समझा गया है।

सन्दर्भ :

१. मेहता, मोहनलाल, जैन-आचार, पृ० १३५.
२. जैन, सुदर्शन लाल, उत्तराध्ययनसूत्र: एक परिशीलन, पृ० २६१.
३. वही, पृ० २६१ तथा आगे।
४. न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं। उत्तराध्ययनसूत्र, ८/८.
५. जइ मज्झ कारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया। न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई। वही, २२/१९.
६. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६१-६२.
७. पुच्चि च इण्हिं च अणागयं च मणप-दोसो न मे अत्थि कोइ। उत्तराध्ययनसूत्र, १२/३२.
महप्पसाया इसिणो हवन्ति न हु मुणी कोवपरा हवन्ति। वही, १२/३१.
हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओएस। वही, २/२६.
मेत्तिं भूएसु कप्पए। वही, ६/२.
उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६२ तथा आगे।
८. न सयं गिहाइं कुज्जा णेव अत्रेहिं कारए। गिहकम्मसमारम्भे भूयाणं दीसई वहो। उत्तराध्ययनसूत्र, ३५/८.
पाणभूयदयट्ठाए न पये न पयावए। वही, ३५/१०.
समलोदुक्कंचणे भिक्खू विरए कयविककए। वही, ३५/१३, ३५/८-१५, २१/१३, १५/१६, ९/१५.
९. उगमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं। गिणहन्तो निक्खवन्तो य पउंजेज्ज इमं विहिं। वही, २४/१२-१३.
१०. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ २६३.
११. वही, पृ० २६३.
१२. समयं गोयम! मा पमायए। उत्तराध्ययनसूत्र, १०/६

- खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाए पहाय कामे। समिच्च लोयं समया महेसी अप्पाणरक्खी चरमप्पमतो।। वही, ४/१०
१३. तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे। जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं वूम माहणं।। वही, २५/२३.
१४. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६४ तथा आगे।
१५. उत्तराध्ययनसूत्र, २१/२४.
१६. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६५.
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्जं वज्जए मुणी।। उत्तराध्ययनसूत्र, १/३६.
१७. निच्चकालऽप्पमत्तेणं मुसावायविवज्जणं। भासियव्वं हियं सच्चं निच्चा उत्तेण दुक्करं।। वही, १९/२७.
१८. संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य। वयं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई।। वही, २४/२३.
१९. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६५.
२०. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते। एवं अदत्ताणि समाययन्तो रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो।। उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/३१.
२१. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६७.
२२. आयाणं नरयं दिस्स, नायएज्ज तणाववि। दो गुन्धी अप्पणो पाए दित्रं भुंजेज्ज भोयणं।। उत्तराध्ययनसूत्र, ६/८.
२३. दिव्व-माणुस-तेरिच्छं जो न सेवई मेहुणं। मणसा काय-वक्केणं तं वयं वूम माहणं।। वही, २५/२६.
२४. बम्भम्मि नायज्झयेणुसे उाणेसु य ऽसमाहिए। जे भिक्खु जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले।। वही, ३१/१४.

२५. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६८.
२६. उत्तराध्ययनसूत्र, ३१/१०
२७. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २६८-२७३.
२८. उत्तराध्ययनसूत्र, १६/१, पद्य भाग तथा १६/१, गद्य
तथा ३२/१३, १६; ८/१९, २२/४५, १/२६.
२९. वही, ३२/१३.
३०. वही, ३६/१६.
३१. वही, १६/२, पद्य तथा गद्य
३२. तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेजागए विहरेज्जा।
वही, १६/५, गद्य।
३३. वही, १६/५, गद्य
३४. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/१५.
३५. पंकभूया उ इत्थिओ। वही, २/१७, ८/१८.
३६. वही, १६/५, गद्य तथा पद्य।
३७. वही, १६/८, गद्य तथा पद्य और आगे ३२/१४.
३८. वही, ३२/१०.
३९. वही, ३२/११.
४०. वही, २६/३५.
४१. उत्तराध्ययनसूत्र, १६/९, पद्य तथा गद्य।
४२. वही, १६/१०, पद्य तथा गद्य
विसं तालउडं जहा। वही, १६/१३।
४३. संकट्टाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं। वही, १६/
१४, पद्य
४४. वही, १६/१६, पद्य।
४५. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २७८.
४६. उत्तराध्ययनसूत्र, ६/१६ तथा ३५/१३.
४७. वही, १०/३२.
४८. वही, १०/३२.
४९. कलं अग्घइ सोलसि।। वही, ९/४४.
५०. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन, पृ० २८०.
५१. आयाणं नरयं दिस्सा। उत्तराध्ययनसूत्र, ६/८.
५२. मेहता, मोहनलाल, जैनधर्म-दर्शन, पृ० ५१४.
५३. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-दर्शनों का
तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ० ३३१; उत्तराध्ययन
सूत्र २८/१४; तत्त्वार्थसूत्र, २/४.
५४. उत्तराध्ययनसूत्र, १८/२५.
५५. वही, १३/२१ तथा जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार-
दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ० ३३३-
३४१.



जैन चिन्तन में प्राणायाम : एक अनुशीलन

मुनि मणिभद्र*

प्राणायाम प्राणों को साधने की एक विधि है। प्राण का अर्थ है- वायु। श्वास को अन्दर लेना, बाहर निकालना और श्वास को शरीर के अन्दर रोकना इन तीनों क्रियाओं का सामूहिक नाम प्राणायाम है। जो वायु जीवन धारण करती है वह प्राणवायु कहलाती है। महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंग माने हैं जिनमें प्राणायाम का चतुर्थ स्थान है। उन्होंने प्राणायाम को मुक्तिसाधना में उपयोगी माना है। जैन साधना-पद्धति में प्राणायाम का उल्लेख तो है किन्तु उसे मुक्ति की साधना में आवश्यक नहीं माना गया है।^१ आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने प्राणायाम का निषेध किया है, क्योंकि प्राणायाम से वायुकाय जीवों की हिंसा की संभावना रहती है।^२ इसी तरह आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र^३ में तथा उपाध्याय यशोविजय जी ने भी जैनदृष्ट्या परीक्षितं पातंजलि योगदर्शनं^४ नामक ग्रन्थ में प्राणायाम को मुक्ति की साधना के रूप में अस्वीकार किया है। उनके अनुसार प्राणायाम से मन शान्त नहीं होता, अपितु विलुप्त हो जाता है। प्राणायाम की शारीरिक दृष्टि से उपयोगिता है मानसिक दृष्टि से नहीं। यशोविजय जी का मन्तव्य है कि प्राणायाम, हठयोग आदि का अभ्यास चित्तनिरोध और परम इन्द्रियगेय का निश्चित उपाय नहीं है। निर्युक्तिकार ने एतदर्थ ही इसका निषेध किया है। स्थानांगसूत्र में अकालमृत्यु प्राप्त करने के सात कारण प्रतिपादित किए गए हैं जिनमें आनप्राण निरोध भी एक कारण है।^५ आवश्यकनिर्युक्ति का गहराई से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उसमें उच्छ्वास के पूर्ण निरोध का तो निषेध है, किन्तु सम्पूर्ण प्राणायाम का निषेध नहीं है, क्योंकि उसमें उच्छ्वास को सूक्ष्म करने पर बल दिया गया है।^६

रेचक, पूरक, कुम्भक- ये तीन प्राणायाम के अंग हैं। प्रयत्न द्वारा नासिका-ब्रह्मरन्ध्र और मुखकोष्ठ द्वारा उदर में से वायु को बाहर निकालना रेचक है। बाहर की वायु को

खींचकर उसे उपान द्वारा कोष्ठ में भर लेना पूरक है और नाभिकमल में स्थिर करके उसे रोक लेना कुम्भक है। कुछ आचार्य रेचक, पूरक और कुम्भक के साथ प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर को मिलाकर प्राणायाम के सात प्रकार बताते हैं। नाभि में से खींचकर हृदय में और हृदय में से खींचकर नाभि में एक स्थान से दूसरे स्थान पर वायु को ले जाना प्रत्याहार है। तालु, नासिका और मुख से वायु का निरोध करना शान्त है। कुम्भक में वायु को नाभिकमल में रोकते हैं तथा शान्त प्राणायाम में वायु को नासिका, मुँह आदि जिनके द्वारा वायु को बाहर किया जाता है, पर रोका जाता है। बाहर से वायु को ग्रहण कर उसे हृदय आदि में स्थापित करना उत्तर प्राणायाम है और उसी वायु को नीचे की ओर ले जाकर धारण करना अधर प्राणायाम है।^७

प्राणवायु के प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान-ये पाँच प्रकार हैं। प्राणवायु नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि, पैर के अंगुष्ठ पर्यन्त फैलने वाला है। उसका वर्ण हरा बताया गया है। उसे रेचक क्रिया, पूरक क्रिया और कुम्भक क्रिया के प्रयोग एवं धारणा से नियंत्रित करना चाहिए। अपान वायु का रंग श्याम है। गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एडी में उसका स्थान है। इन स्थानों में गमागम रेचक की प्रयोग-विधि से उसे नियंत्रित कर सकते हैं। समान वायु का स्रोत श्वेत है। हृदय, नाभि और सभी संधियों में उसका निवास है। सभी स्थानों में पुनः-पुनः गमागम करने से उस पर नियंत्रण किया जा सकता है। उदान वायु का वर्ण लाल है। हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूकुटि एवं मस्तक में इसका स्थान है। इन्हीं स्थानों में पुनः-पुनः गमागम करने से इस पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। व्यान वायु का रंग इन्द्रधनुष के समान है। त्वचा के सभी भागों में इसका निवास है। प्राणायाम से इस पर नियंत्रण किया जा सकता है।^८

* स्थानकवासी जैन सन्त एवं मानव मिलन प्रेरक

इन वायुओं को नियंत्रित करने के लिए प्राणायाम के समय तत्सम्बन्धी बीजाक्षरों का ध्यान करना चाहिए, ऐसा आचार्यों ने बताया है। ये बीजाक्षर इस प्रकार हैं-^९

प्राणवायु

| वायु | निवास | वर्ण | बीजाक्षर |
|-------|---|-------------|----------|
| प्राण | नासिका का अग्रभाग, हृदय, नाभि, पैर के अंगुष्ठ पर्यन्त | हरा | यै |
| अपान | गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा, एडी | काला | पैं |
| समान | हृदय, नाभि, सभी संधियाँ | श्वेत | वैं |
| उदान | हृदय, कण्ठ, तालु, भृकुटि, मस्तक | लाल | रौं |
| व्यान | त्वचा का सर्वभाग | इन्द्रधनुषी | लौं |

नासिका प्रभृति स्थानों से पुनः-पुनः वायु का पूरण व रेचन करने से गमागम प्रयोग होता है और उसका अवरोध अर्थात् कुम्भक करने से धारण प्रयोग होता है। नासिका से बाहर के वायु को अन्दर खींचकर उसे हृदय में स्थापित करना चाहिए। वह यदि पुनः-पुनः दूसरे स्थान पर जाता है तो उसे पुनः-पुनः निरोध करके वश में करना चाहिए। वायु को नियंत्रित करने का यह उपाय प्रत्येक वायु के लिए उपयोगी है। वायु के निवास के जो-जो स्थान आचार्यों ने बतलाये हैं वहाँ पर प्रथम पूरक प्राणायाम करना चाहिए अर्थात् नासिका द्वारा बाहर से वायु को अन्दर खींचकर उस स्थान पर रोकना चाहिए। ऐसा करने से खींचने व रोकने की प्रक्रियाएँ स्वतः बन्द हो जायेंगी और वह वायु उस स्थान पर नियत समय तक स्थिर रहेगी। यदि कभी वह वायु बलात् दूसरे स्थान पर चली भी जाए तो उसे पुनः-पुनः रोककर और कुछ समय तक रेचक प्राणायाम द्वारा अर्थात् नासिका के एक छिद्र से शनैः-शनैः उसे बाहर निकालना चाहिए और पुनः उसी नासिका छिद्र से कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। इससे वायु अपने अधिकार में रहती है।

वीरासन, वज्रासन, पद्मासन आदि किसी भी आसन में अवस्थित होकर शनैः-शनैः वायु का रेचन करें। उसे पुनः नासिका के बायें छिद्र से अन्दर खींचें और पैर के अंगुठे तक

ले जाएं। मन का भी पैर के अंगुठे में निरोध करें। फिर अनुक्रम से वायु के साथ पैर के तल भाग एड़ी, जाँघ, जानु, उरु, अपान, उपस्थ, नाभि, पेट, हृदय, कंठ में धारण करें और उसे ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाएं। पुनः उसी क्रम से उसे लौटायें तथा उसे पैर के अंगुठे तक ले जाएं। इसके बाद वहाँ से उसे नाभिकमल में ले जाकर वायु का रेचन करें।^{१०}

यह सत्य भी है कि जहाँ पर मन है वहाँ पर वायु है और जहाँ पर वायु है वहाँ पर मन है। अतः समान क्रिया वाले मन और वायु क्षीर-नीर की भाँति परस्पर मिले हुए हैं। मन और वायु दोनों में से कोई एक के नष्ट होने पर दूसरा भी नष्ट हो जाता है। आत्मा में उपयोग को अवस्थित करने से श्वास शनैः-शनैः चलने लगता है। श्वास के शनैः-शनैः चलने से मन की प्रवृत्ति भी मन्द पड़ जाती है। कुछ व्यक्ति ध्यान की अवस्था में मन को स्थिर करने का प्रयास करते हैं, पर प्राणों पर विजय न होने से वे इतस्ततः परिभ्रमण करते हैं। जब वायु पर विजय होती है तो मन पर स्वतः विजय की प्राप्ति हो जाती है।

प्राणवायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है। यह सभी जानते हैं कि वायु ही जीवन है। भोजन और पानी के बिना प्राणी महीनों तक जीवित रह सकता है, किन्तु श्वास के बिना नहीं। हम श्वास लेते हैं जिससे वायु अन्दर जाती है। वायु में ऑक्सीजन है जिसकी शरीर को अत्यधिक आवश्यकता रहती है। वायु में स्थित ऑक्सीजन ही जीवन का आधार है। यदि वायु में जीवन न हो तो जीवन निःशेष हो जायेगा। प्राणवायु पर ही सभी वायु ठहरी हुई हैं। इससे शरीर में लघुता आती है। यदि शरीर के किसी भी अवयव में कहीं भी घाव हो जाए तो समान वायु और अपान वायु पर नियन्त्रण करने से जख्म शीघ्र भर जाते हैं। टूटी हुई हड्डियाँ भी जुड़ जाती हैं। जठराग्नि प्रदिप्त हो जाती है। मल-मूत्र कम हो जाते हैं तथा व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। उदानवायु पर विजय प्राप्त करने से मानव में ऐसी शक्ति समुत्पन्न होती है कि वह चाहे तो मृत्यु के समय अर्चि मार्ग अथवा दशम द्वार से प्राण त्याग सकता है। न उसे पानी से किसी प्रकार की बाधा ही उपस्थित हो सकती है और न कंटकादि कष्ट ही। व्यानवायु की विजय से शरीर पर सर्दी-गर्मी का असर नहीं होता है शरीर में अपूर्व तेज की वृद्धि

होती है और निरोगता प्राप्त होती है। जिस स्थान पर रोग उत्पन्न हुआ हो उसकी शांति के लिए उस स्थान पर प्राणादि वायु को रोकना चाहिए। उस समय सर्वप्रथम पूरक प्राणायाम करके उस भाग में कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए।

पैर के अंगुष्ठ, एड़ी, जंघा, घुटना, उरु, अपान और उपस्थ में अनुक्रम से वायु को धारण करने से गति में शीघ्रता और बल की प्राप्ति होती है। नाभि में वायु को धारण करने से ज्वर नष्ट हो जाता है। जठर में धारण करने से मल-शुद्धि होती है और शरीर शुद्ध होता है। हृदय में धारण करने से रोग और वृद्धावस्था नहीं आती। यदि वृद्धावस्था आ गयी तो उस समय उसके शरीर में नौजवानों की-सी स्फूर्ति रहती है। कण्ठ में वायु को धारण करने से भूख-प्यास नहीं लगती है। यदि कोई व्यक्ति क्षुधा-पिपासा से पीड़ित हो तो उसकी क्षुधा और पिपासा मिट जाती है। जिह्वा के अग्रभाग पर वायु का निरोध करने से रस ज्ञान की वृद्धि होती है। नासिका के अग्र भाग पर वायु को रोकने से गंध का परिज्ञान होता है। चक्षु में धारण करने से रूपज्ञान की वृद्धि होती है। कपाल व मस्तिष्क में वायु को धारण करने से कपाल मस्तिष्क सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं। रेचक प्राणायाम से उदर की व्याधि व कफ नष्ट होता है। पूरक प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है, व्याधि नष्ट होती है। कुम्भक प्राणायाम करने से हृदय कमल उसी क्षण विकसित हो जाता है। हृदयग्रंथी का भेदन होने से बल की अभिवृद्धि

होती है, वायु में स्थिरता आती है। प्रत्याहार करने से शरीर में बल और तेज की वृद्धि होती है। शान्त प्राणायाम से वात, पित्त, कफ या सन्निपात की व्याधि नष्ट होती है। उत्तर और अधर प्राणायाम कुम्भक को स्थिर बनाते हैं।^{११}

यह सत्य है कि निर्युक्ति आदि में प्राणायाम का निषेध किया गया है, पर जैन साधना में कायोत्सर्ग का विशिष्ट स्थान रहा है। दशवैकालिक में अनेक बार कायोत्सर्ग करने का विधान है। कायोत्सर्ग में कालमान श्वासोच्छ्वास से ही गिना गया है। आचार्य भद्रबाहु ने दैवसिक कायोत्सर्ग में १०० उच्छ्वास, रात्रिक कायोत्सर्ग में ५०, पाक्षिक में ३००, चातुर्मासिक में ५०० और सांवत्सरिक कायोत्सर्ग में १००८ उच्छ्वास का विधान किया है।^{१२} श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म प्रक्रियाओं की जैन साहित्य में जो स्वीकृति है वह एक प्रकार से प्राणायाम की ही स्वीकृति है। इस दृष्टि से जैन परम्परा में भी प्राणायाम स्वीकार किया गया है। जैन साधना जो कायोत्सर्ग की साधना है वह प्राणायाम से युक्त है। जैन आगमों में दृष्टिवाद जो बारहवां अंग है, उसमें एक विभाग पूर्व है। पूर्व का बारहवां विभाग प्राणायुपूर्व है। कषायपाहुड^{१३} में उस पूर्व का नाम प्राणवायुपूर्व है जिसमें प्राण और अपान का विभाग विस्तार से निरूपित है। प्राणायु या प्राणवायुपूर्व के विषय वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन मनीषी प्राणायाम से सम्यक् प्रकार से परिचित थे।

सन्दर्भ:

१. योगसूत्र, २/९ तथा उपाध्याय अमरमुनि, योगशास्त्र- एक परिशीलन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६३, पृ०- ४१
२. आवश्यकनिर्युक्ति तथा आवश्यकचूर्णि, गाथा १५२४
३. योगशास्त्र, ६/४, ५/५
४. जैनदृष्ट्या परीक्षितं पातंजलि योगदर्शनम्, २/५५, उद्धृत अध्यात्मसार, उपाध्याय यशोविजय
५. सत्तविधे आउभेदे पण्णत्ते, तं जहा अज्जवसाण-णिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते। फासे आणापाणु सत्तविधं भिज्जे आउं। स्थानांगसूत्र, मधुकर मुनि, ७/७२

६. आवश्यकनिर्युक्ति व आवश्यकचूर्णि, गाथा १५२४
७. योगशास्त्र, ५/४
८. वही, ५/१४-२०
९. वही, ५/२१
१०. वही, ५/३१
११. वही, ५/३२-३५
१२. दशवैकालिकसूत्र, मधुकर मुनि, पृ०- ५७
१३. कषायपाहुड, अनु० पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, श्री वीर शासन संघ कलकत्ता, १९५५, १/२

जैन धर्म में भक्ति का स्वरूप

डा० ओम प्रकाश सिंह*

जैन धर्म में भक्ति का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह अन्य धर्मों में मान्य भक्ति के स्वरूप से भिन्न है। कारण कि जैन धर्म में वीतरागता की प्रधानता है और जहाँ वीतरागता है वहाँ भक्ति का स्वरूप भी कुछ अलग होना निश्चित है, क्योंकि भक्ति में भगवान् या आराध्य के प्रति रागता की प्रमुखता होती है और जब रागता की परिणति उपास्य और उपासक रूपी द्वैत को समाप्त कर अद्वैत रूप में होती है तब भक्ति पूर्णता को प्राप्त होती है। लेकिन जैन धर्म के अनुसार आत्मा द्वारा अपने ही निरावरण शुद्ध स्वरूप या परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बन जाना भक्ति की चरम निष्पत्ति है। जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा कैसे और किस रूप में आयी इस सम्बन्ध में डा० सागरमल जैन का कहना है- 'जहाँ तक मेरी जानकारी है आगमों में सत्धारभक्ति 'भक्तिचित्ताओ' (ज्ञाताधर्म) शब्द मिलता है। सर्वप्रथम ज्ञाताधर्म में तीर्थंकर पद की प्राप्ति में सहायक जिन २० कारणों की चर्चा है उनमें श्रुतभक्ति (सुयभक्ति) का स्पष्ट उल्लेख है। इसके साथ ही उसमें अरहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, तपस्वी आदि के प्रति वत्सलता का उल्लेख हुआ है। आगे चलकर वात्सल्य को भक्ति का एक अंग मान लिया गया। आवश्यकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम भक्तिफल की चर्चा हुई है।'^१

ईश्वरवादी धर्म ईश्वर को सर्वशक्तिमान और जगत् का कर्ता-धर्ता मानते हैं, अतः उनमें ईश्वर या परमात्मा की उपासना उनकी कृपा प्राप्ति के लिए की जाती है, ताकि वे प्रसन्न होकर भक्त या उपासक का कल्याण करेंगे, इस कारण वे भगवान् की पूजा, भक्ति व उपासना करते हैं। भक्त अपनी इच्छाओं को प्रभु-इच्छा में विलीन कर देता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रभु के समीप पहुँचता है, उसे दिव्यत्व प्राप्त होने लगता है। अन्ततोगत्वा भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं।

परन्तु जैन धर्म इस विषय में सब धर्मों से अलग पड़ जाता है। जैन तीर्थंकरों में किसी व्यक्ति विशेष को ईश्वर या परमात्मा नहीं माना गया और न ही उसे संसार का कर्ता-धर्ता ही माना गया है। जैन मान्यता के अनुसार ईश्वर, भगवान्, परमात्मा एक गुण विशिष्ट पद का सूचक है, व्यक्ति विशेष का नहीं। इन गुणों को पूर्ण विकसित या प्रकट करने वाले अब तक अनन्त व्यक्ति हो चुके हैं, अतः वे सभी ईश्वर, भगवान् या परमात्मा बन चुके हैं।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि जैन धर्म में मान्य उपासना की प्रक्रिया में अन्य धर्मों से अनेक बातों में साम्य या वैषम्य हो सकता है, किन्तु भक्ति के मूल स्वरूप के विषय में निःसंदेह भिन्नता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जैनधर्म में ईश्वर को न मानने के कारण ईश्वर के प्रति की जाने वाली भक्ति और उपासना की प्रधानता नहीं है, किन्तु अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त आत्मा अर्थात् परमात्मा तथा अन्य महापुरुषों की भक्ति करने का विधान किया गया है। अन्य धर्मों में भक्ति का मुख्य प्रायोजन भक्त की कामनापूर्ति बताया गया है, किन्तु जैनधर्म में भक्ति का प्रायोजन आत्म-स्वरूप को प्राप्त करना है।

जैनाचार्यों ने दश प्रकार की भक्ति का वर्णन किया है-सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्य-भक्ति, निर्वाण-भक्ति, पंचपरमेष्ठी-भक्ति, तीर्थंकर-भक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति, शान्ति-भक्ति। यहाँ हम इन दश भक्तियों के विषय में संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करेंगे-

१. सिद्धभक्ति- आचार्य पूज्यपाद के अनुसार सिद्धों की वन्दना करनेवाला उनके अनन्त गुणों को सहज में ही पा लेता है।^२ सिद्धों के भक्त, भक्तिमात्र से सिद्ध पद को भी प्राप्त करते हैं।^३ सिद्धों को सिर झुकाना सर्वोत्तम भाव-नमस्कार है।

* पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

आचार्य सोमदेव का मानना है सिद्धों की भक्ति से सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप तीन प्रकार के रत्नत्रय उपलब्ध होते हैं।^९

२. श्रुतभक्ति- जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनता है या सुनना मात्र 'श्रुत' कहलाता है। वह एक ज्ञान विशेष के अर्थ में निबद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत श्रुतभक्ति में श्रुतज्ञान की स्तुति करते हुए लिखा है- अर्हन्त के द्वारा कहे गये और गणधरों के द्वारा गुंथे गये, ऐसे महासागर प्रमाण श्रुतज्ञान को मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।^{१०}

३. चारित्रभक्ति- जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाये या आचरण करना मात्र चारित्र कहलाता है।^{११} वस्तुतः आचरण का दूसरा नाम ही चारित्र है। चारित्रभक्ति का सम्बन्ध अच्छे चारित्र से है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि पूर्ण चारित्र का पालन कर मोक्ष गये हुए सिद्धों की वन्दना से चारित्रगत विशृंखलता दूर होती है और मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।^{१२} उन्होंने पाँच प्रकार के चारित्र की भक्ति से कर्ममल का शुद्ध होना माना है।^{१३}

४. योगिभक्ति- अष्टांगयोग को धारण करने वाला योगी कहलाता है।^{१४} आचार्य पूज्यपाद ने योगियों के द्वारा किये गये द्विविध तपों का विशद वर्णन किया है। अन्त में उन्होंने योगी की स्तुति करते हुए लिखा है- तीन योग धारण करने वाले, बाह्य और आभ्यन्तर रूप तप से सुशोभित पुण्यवाले, मोक्षरूपी सुख की इच्छा करने वाले मुनिराज, मेरे जैसे स्तुतिकर्ता को सर्वोत्तम शुक्लध्यान प्रदान करें।^{१५}

५. आचार्य-भक्ति- शुद्धभाव से आचार्य में अनुराग करना, आचार्यभक्ति कहलाती है।^{१६} अनुराग से अनुप्राणित होकर ही भक्त कभी तो आचार्य को नये-नये उपकरणों का दान देता है, कभी उनके प्रति आदर दिखाता है और कभी शुद्ध मन से उनके पैरों का पूजन करता है।^{१७}

६. निर्वाण-भक्ति- जो निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं उनकी भक्ति करना निर्वाण-भक्ति है। इस भक्ति में पंचकल्याणक-स्तवन, तीर्थकरों की स्तुति और निर्वाण-स्थलों के प्रति भक्ति-भाव शामिल है। निर्वाण-स्थल वे हैं जहाँ तीर्थकरों को निर्वाण प्राप्त हुआ है। उनकी भक्ति संसार-सागर से तारने में समर्थ है, अतः उन्हें तीर्थ भी कहते हैं।^{१८}

तीर्थकर के पंचकल्याणक जिन स्थानों से सम्बन्धित हैं, वे भी तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थयात्राएँ और तीर्थस्तुतियाँ दोनों ही निर्वाण-भक्ति के अंग हैं।

७. पंचपरमेष्ठी-भक्ति- अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सभी साधु पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं। यह क्रम साधु से अर्हन्त तक उत्तरोत्तर अधिकाधिक आत्मशुद्धि की दृष्टि से है। पंचपरमेष्ठी की भक्ति करने वाला जीवन के अष्टकर्मों का नाश कर, संसार के आवागमन से छूट जाता है। उसे सिद्धि-सुख और बहुत मान प्राप्त होता है।^{१९}

८. तीर्थकर-भक्ति- तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थकर कहलाता है।^{२०} यह संसाररूपी समुद्र जिस निमित्त से तिरा जाता है, वह तीर्थ है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में लिखा है कि सोलह कारण भावनाओं का ध्यान करने से अल्पकाल में ही तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध होता है। उन भावनाओं में अर्हत्भक्ति भी है। इसका तात्पर्य है कि अर्हन्त (तीर्थकर) की भक्ति करने वाला तीर्थकर बन जाता है। आचार्य उमास्वाति ने भी तीर्थकरत्व नाम-कर्म के कारणों में अर्हत्भक्ति को गिनाया है।^{२१}

९. नन्दीश्वर-भक्ति- जैन धर्म के अनुसार मध्यलोक में असंख्यातद्वीप और समुद्र हैं जो एक-दूसरे को घेरे हुए हैं, दोहरे विस्तार और चूड़ी के आकारवाले हैं।^{२२} उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है, उसका विस्तार एक लाख योजन है, उसे दो लाख योजन का लवण समुद्र घेरे हुए है। इसी क्रम से आठवाँ द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। नन्दीश्वर द्वीप के कृत्रिम जिन-मन्दिरों और उनमें विराजमान जिन-प्रतिमाओं की पूजा-अर्चना करना नन्दीश्वर भक्ति कहलाती है। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम ८ दिनों में सौधर्म प्रमुख विबुधपति नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं और दिव्य अक्षत, गन्ध, पुष्प और धूप आदि द्रव्य से उन अप्रतिम प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।^{२३}

१०. शान्ति-भक्ति- शान्ति का अर्थ है निराकुलता। शान्ति के लिए की गयी भक्ति शान्ति-भक्ति कहलाती है। भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति से क्षणिक और शाश्वत दोनों ही प्रकार की शान्ति मिलती है। जिनेन्द्र ने शाश्वत शान्ति प्राप्त कर ली है। वे शान्ति के प्रतीक माने जाते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने शान्ति-भक्ति में लिखा है कि 'जिनेन्द्र चरणों की स्तुति करने से समस्त विघ्न

और शारीरिक रोग उपशमित हो जाते हैं। जैसे कि मन्त्रों के पाठ से सर्प का दुर्जय विष शान्त हो जाता है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में किसी न किसी रूप में भक्ति को स्वीकार किया गया है। यद्यपि वीतराग प्रभु न किसी का अच्छा करते हैं और न किसी का बुरा, न

किसी को उत्पन्न करते हैं, और न किसी का विनाश, पर वे जिस वीतराग स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, वे जो अभी तक वीतराग नहीं बन पाये हैं, उनके लिए आदर्श रूप हैं। उनसे निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करना भक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है। उनके आलम्बन से परमात्म-पद की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ:

१. जैन विद्या के विविध आयाम, भाग-६, पृ०-४३८।
२. सिद्धभक्ति, पूज्यपाद, पद्य १, पृ. १११।
३. वही, पृ. ११२।
४. Handiqui, K.K, *Yasastilaka and Indian Culture*, Sholapur, 1949, p. 311.
५. दशभक्ति, कुन्दकुन्द, शोलापुर, १९२१, पृ. १२६-१२७।
६. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०सं० २०१२, पृ. १२७।
७. दशभक्ति, कुन्दकुन्द, शोलापुर, १९२१, पृ. १५१।
८. वही, पृ. १५२।
९. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, पं० हीरालाल सम्पादित वहिन्दी अनूदित, ६/७२ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. १०।
१०. योगिभक्ति, पूज्यपाद, पद्य ८, पृ. १५६।
११. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, पृ. ३३१।
१२. तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुतसागरसूरि, पं० महेन्द्रकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, ६/२४ की व्याख्या, पृ. २२७-२२९।
१३. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, ४/४७ की स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ७८।
१४. दशभक्ति, प्राकृत पंचगुरुभक्ति, गाथा ६, पृ. ३५७।
१५. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, पृ. ७८।
१६. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, ६/२४।
१७. वही, ३/७८।
१८. पूज्यपाद, संस्कृत-नन्दीश्वरभक्ति, दशभक्त्यादि संग्रह, श्लोक १३-१४, पृ. २०१।



पार्श्वचन्द्रगच्छ का संक्षिप्त इतिहास

शिवप्रसाद*

श्वेताम्बर परम्परा में समय-समय पर अस्तित्व में आये विभिन्न गच्छों में नागपुरीयतपागच्छ भी एक है। इस गच्छ की पट्टावलियों के अनुसार वडगच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि द्वारा नागौर में उग्र तप करने के कारण वहां के शासक द्वारा उन्हें 'तपा' विरुद्ध प्रदान किया गया। धीरे-धीरे उनकी शिष्य सन्तति इसी आधार पर नागपुरीयतपागच्छ के नाम से विख्यात हुई। इस गच्छ में कई विद्वान् और प्रभावशाली मुनिजन हो चुके हैं। इसी गच्छ में वि० सम्बत् की १६वीं शती के अंतिम चरण में हुए आचार्य हेमहंससूरि की परम्परा में हुए आचार्य साधुरत्नसूरि के शिष्य पार्श्वचन्द्रसूरि अपने समय के एक प्रखर विद्वान् और प्रभावशाली जैन आचार्य थे। उनके द्वारा रची गयी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मिलती हैं। इनके पश्चात् इनकी शिष्यसन्तति इन्हीं के नाम पर पार्श्वचन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई और आज भी इस परम्परा के अनुयायी मुनिजन एवं साध्वियाँ विद्यमान हैं।

पार्श्वचन्द्रगच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये आवश्यक साहित्यिक एवं अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हैं। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियों तथा उनके प्रेरणा से लिखवायी गयी या स्वयं अध्ययनार्थ लिखे गये ग्रन्थों की प्रशस्तियों के साथ-साथ इस गच्छ की तीन पट्टावलियाँ भी मिलती हैं। इन सब के साथ-साथ इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं, जो विक्रम सम्बत् की १८वीं शती से लेकर वि०सं० की २०वीं शती तक के हैं। साम्प्रत निबन्ध में उन सभी साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के इतिहास की एक झलक प्रस्तुत करने का एक प्रयास किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिये सर्वप्रथम साहित्यिक साक्ष्यों-ग्रन्थ एवं पुस्तक प्रशस्तियों तथा पट्टावलियों और इनके पश्चात् अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण प्रस्तुत है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आचार्य पार्श्वचन्द्रसूरि अपने समय के विद्वान् और प्रभावक जैन मुनि थे। उनके द्वारा रची गयी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मिलती^१ हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

१. आचारांगप्रथमश्रुतस्कन्धबालावबोध
२. तन्दुलवेचारियपयन्नबालावबोध
३. प्रश्नव्याकरणसूत्रबालावबोध
४. औपपातिकसूत्रबालावबोध
५. सूत्रकृतांगसूत्रबालावबोध
६. रूपकमाला (रचनाकाल - वि०सं० १५८६)
७. साधुवन्दना
८. चारित्रमनोरथमाला
९. श्रावकमनोरथमाला
१०. संगरंगप्रबन्ध
११. वस्तुपाल तेजपालरास (रचनाकाल वि०सं० १५९७)
१२. मुंहपत्तिछत्तीसी
१३. केशिप्रदेशीबन्ध
१४. खंथकचरित्र (रचनाकाल - वि०सं० १६००)

इनके शिष्य समरचन्द्र भी विद्वान् जैनाचार्य थे। अपने गुरु पार्श्वचन्द्रसूरि की स्तुति में इन्होंने पार्श्वचन्द्रसूरिस्तुतिसंज्ञाय की रचना की^२। इनके द्वारा रचित अन्य कृतियों^३ का विवरण निम्नानुसार है :

१. चतुर्विंशतिजिननमस्कार (रचनाकाल वि०सं० १५८८)
२. प्रत्याख्यानचतुःसप्ततिका
३. पंचविंशतिक्रियासंज्ञाय
४. आवश्यकअक्षरप्रमाणसंज्ञाय
५. शत्रुंजयमंडनपार्श्वनाथस्तवन

* पोस्ट डाक्टरल रिसर्च फेलो, आई०सी०एच०आर० (एन०आई०एच०आर०) वाराणसी

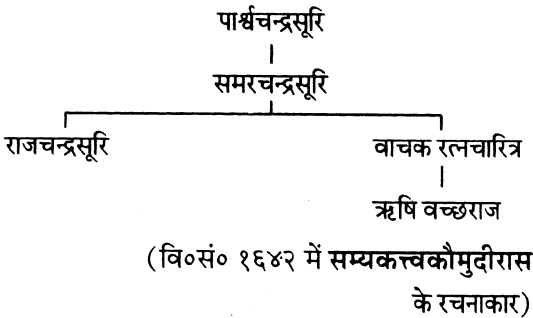
६. शांतिनाथजिनस्तवन
७. ब्रह्मचारी
८. उपदेशसाररत्नकोश
९. ऋषभस्तव
१०. कल्याणस्तव
११. शंखेश्वरस्तव
१२. नेमिस्तव

अपनी कृतियों की प्रशस्तियों में इन्होंने अपने गुरु पार्श्वचन्द्रसूरि का सादर स्मरण किया है।

पार्श्वचन्द्रसूरि के दूसरे शिष्य विनयदेवसूरि हुए जिनसे सुधर्मगच्छ अस्तित्व में आया^४। विनयदेवसूरि के प्रशिष्य मनजी ऋषि ने वि०सं० १६४६ में विनयदेवसूरिरास की रचना की।

पार्श्वचन्द्रगच्छ से सम्बद्ध अन्य साहित्यिक साक्ष्यों का विवरण इस प्रकार है।

सम्यकत्वकौमुदीरास - वि०सं० १६४२ में रची गयी इस कृति के रचनाकार के रूप में वच्छराज नामक मुनि का उल्लेख मिलता है। मरु-गूर्जर भाषा में रचित उक्त कृति की प्रशस्ति^५ में रचनाकार ने अपने गच्छ, गुरु-परम्परा, रचनाकाल आदि का सुन्दर विवरण दिया है, जो निम्नानुसार है:



ऋषि वच्छराज द्वारा रचित नीतिशास्त्रपंचाख्यान अपरनाम पंचतंत्रचौपाई^६ (रचनाकाल वि०सं० १६४८) नामक एक अन्य कृति भी प्राप्त होती है।

पार्श्वचन्द्रसूरिना ४७ दोहा - पार्श्वचन्द्रगच्छीय जयचन्द्रसूरि द्वारा रचित इस कृति की प्रशस्ति^७ में रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा का विवरण दिया है, जो इस प्रकार है :

पार्श्वचंद्र पट्टोदरण, रामचंद्र गुरु सूर,
परेत गुरुने पालीया पंच महाव्रत पूर।
समरचंद्र गुरु सारिखा, राजचंद्र तिणरात,

खडगधार चारित्र खरो चढे धरा लग बात।
गच्छधोरी गाजे गुहिर विमलचंद्र वडवार,
पट्टोदरण प्रगटीयो जयचंद्र जगे आधार।
जे राजा परजाह जे सहुके नामे शीष,
जयचंद्र आयो जोधपुर पुगी सवहि जगीस।

अर्थात्

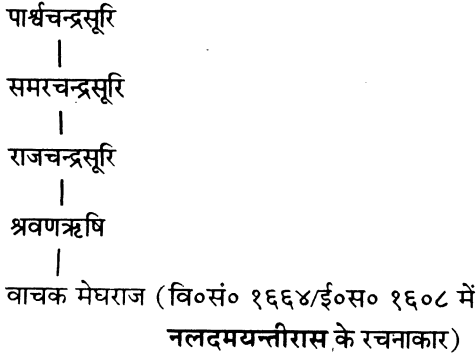
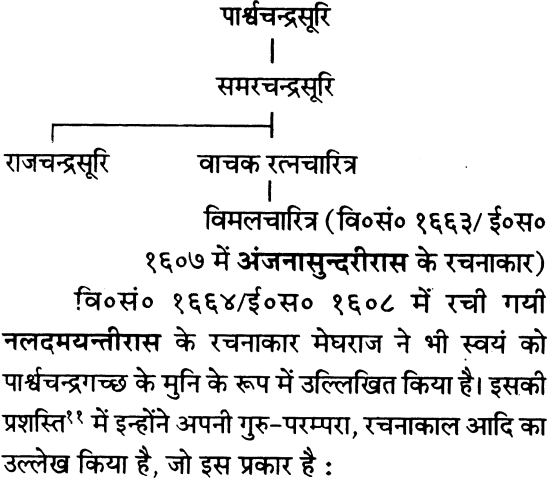
पार्श्वचन्द्रसूरि
|
समरचन्द्रसूरि
|
राजचंद्रसूरि
|
विमलचन्द्रसूरि
|
जयचन्द्रसूरि (वि०सं० १७वीं शती के तृतीय चरण
आस-पास पार्श्वचन्द्रसूरिना सैतालिस-
दूहा के रचनाकार)

इनके द्वारा रचित राजरत्नरास (वि०सं० १६५४),
रायचंद्रसूरिरास आदि कृतियां भी मिलती हैं।^८

आरामशोभाचारित्र के रचनाकार पूजाऋषि भी इसी गच्छ के थे। अपनी उक्त कृति की प्रशस्ति^९ में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा एवं रचनाकाल आदि का निर्देश किया है, जो इस प्रकार है :

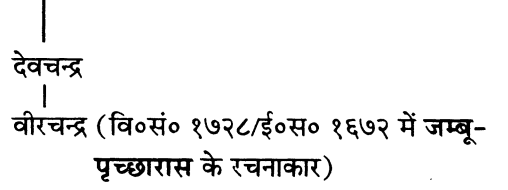
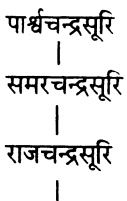
पार्श्वचन्द्रसूरि
|
समरचन्द्रसूरि
|
रायचन्द्रसूरि
|
हंसचन्द्रसूरि
|
पूजाऋषि (वि०सं० १६५२/ई०सं० १५९६ में आराम-
शोभाचारित्र के रचनाकार)

वि०सं० १६६३/ई० सन् १६०७ में रचित अंजनासुन्दरीरास की प्रशस्ति^{१०} से ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार विमलचारित्र भी इसी गच्छ से सम्बद्ध थे। इसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो निम्नानुसार है:

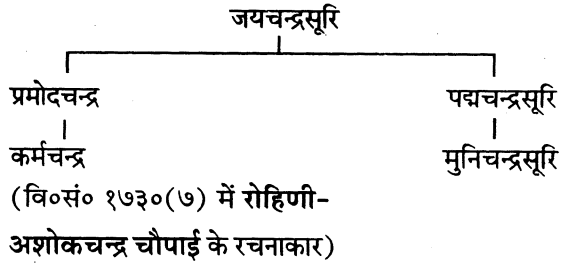


वाचक मेघराज द्वारा रची गयी सोलहसतीरास, पार्श्वचन्द्रस्तुति, सद्गुरुस्तुति, राजप्रशनीयउपांग-बालावाबोध (वि०सं० १६७०), समवायांसूत्रबालावबोध, उत्तराध्ययनसूत्रबालावबोध, औपपातिकसूत्रबालावबोध, साधुसामाचारी (वि०सं० १६६९), क्षेत्रसमासबालावबोध (वि०सं० १९७०) आदि विभिन्न कृतियां मिलती हैं^{१२}

जम्बूपृच्छारास (रचनाकाल वि०सं० १७२८/ई०स० १६७२) की प्रशस्ति^{१३} से ज्ञात होता है कि इसके रचनाकार वीरचन्द्र भी पार्श्वचन्द्रगच्छ से सम्बद्ध थे। इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा निम्नलिखित रूप में बतलायी है :

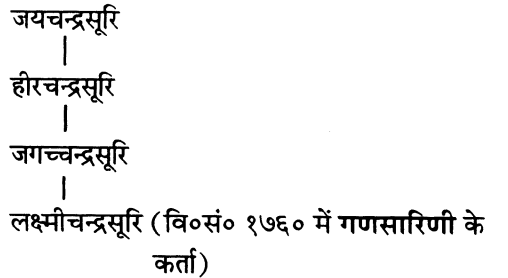


जयचन्द्रसूरि के एक शिष्य वाचक प्रमोदचंद्र हुए, जिनके द्वारा भी रचित कोई कृति नहीं मिलती, किन्तु इनके शिष्य कर्मचन्द्र द्वारा वि०सं० १७३०(७) में रचित रोहिणी (अशोकचंद्र) चौपाई नामक कृति प्राप्त होती है, जिसकी प्रशस्ति^{१४} में इन्होंने अपने प्रगुरु, गुरु, गुरुभ्राता आदि का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :



इस गच्छ की पट्टावलियों में भी जयचन्द्रसूरि के पट्टधर के रूप में पद्मचन्द्रसूरि का नाम मिलता है।

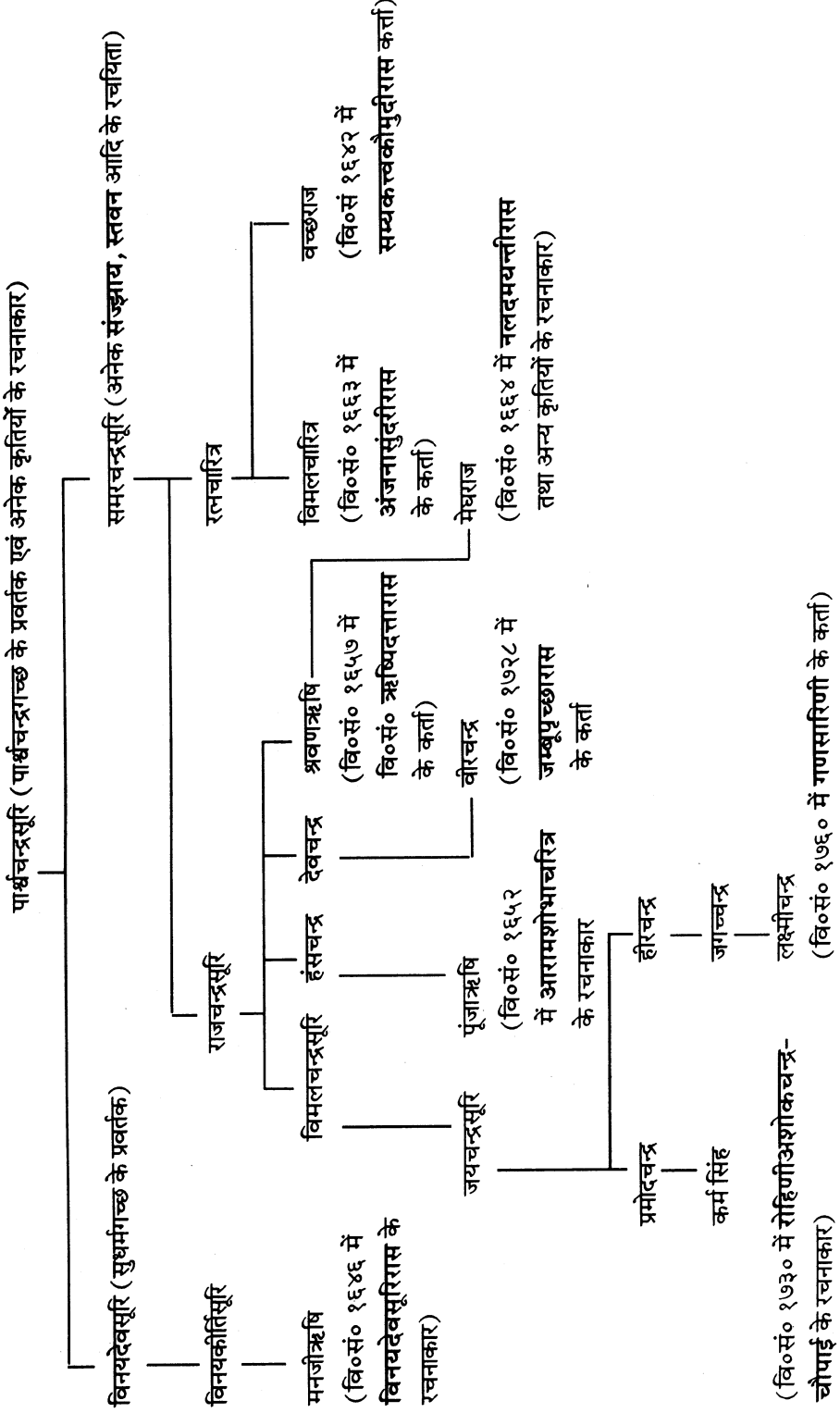
जयचन्द्रसूरि के एक अन्य शिष्य हीरचंद्र हुए जिनके द्वारा रचित यद्यपि कोई कृति नहीं मिलती, किन्तु इनके प्रशिष्य लक्ष्मीचंद्र द्वारा रचित गणसारिणी (रचनाकाल वि०सं० १७६०) नामक कृति मिलती है, जिसकी प्रशस्ति^{१५} में रचनाकार ने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है :



उक्त साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों के गुरु-शिष्य परम्परा की एक तालिका संगठित की जा सकती है, जो इस प्रकार है :

दृष्टव्य - तालिका क्रमांक - १

तालिका क्रमांक - १



जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पार्श्वचन्द्रगच्छ की चार पट्टावलियां आज प्राप्त होती हैं। इनमें से प्रथम पट्टावली^{१६} वि०सं० की १८वीं शती में रची गयी प्रतीत होती है तथा अन्य तीनों विक्रम सम्वत् की २०वीं शती के अंतिम दशक में। प्रथम पट्टावली का प्रारम्भ सुधर्मा स्वामी से होता है। चूंकि इस गच्छ का उद्भव नागपुरीयतपागच्छ से माना जाता है और नागपुरीयतपागच्छ का बृहद्गच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि से। अतः इस पट्टावली में पद्मप्रभसूरि और उनके बाद के जिन पट्टधर आचार्यों का नाम और क्रम मिलता है, वह इस प्रकार है :

तालिका - २

पद्मप्रभसूरि (भवुनदीपक के प्रणेता)
 |
 प्रसन्नचन्द्रसूरि (वि०सं० ११७४ में नागपुरीय-
 तपागच्छ के प्रवर्तक)
 |
 गुणसमुद्रसूरि
 |
 जयशेखरसूरि (वि०सं० १३०१ में आचार्य पद
 प्राप्त)
 |
 वज्रसेनसूरि (वि०सं० १३४२ में आचार्य पद
 प्राप्त)
 |
 हेमतिलकसूरि (वि०सं० १३९९ में दिल्ली
 के अधिपति फिरोजशाह तुगलक
 से भेंट किया)
 |
 रत्नशेखरसूरि (फिरोजशाह तुगलक के प्रति-
 बोधक)
 |
 हेमचन्द्रसूरि
 |
 पूर्णचन्द्रसूरि (वि०सं० १४२४ में आचार्य पद
 प्राप्त)
 |
 हेमहंससूरि (वि०सं० १४५३ में आचार्य पद
 पर प्रतिष्ठापित)
 |
 पंन्यास लक्ष्मीनिवास
 |
 पंन्यास पुण्यरत्न (सर्वविद्याविशारद, वि०सं०
 १४९९ में विद्यमान)
 |
 पंन्यास साधुरत्न

पार्श्वचन्द्रसूरि (वि०सं० १५३७ में जन्म, १५४७
 में दीक्षा, वि०सं० १५५४ में
 उपाध्याय पद, वि०सं० १५६५
 में क्रियोद्धार, अनेक ग्रन्थों के
 रचनाकार, वि०सं० १६१२ में
 स्वर्गस्थ)
 |
 विनयदेवसूरि | समरचन्द्रसूरि (वि०सं० १६०५ में आचार्य
 पद प्राप्त, वि०सं० १६२६ में
 स्वर्गस्थ)
 |
 राजचन्द्रसूरि
 |
 विमलचन्द्रसूरि
 |
 जयचन्द्रसूरि
 |
 पद्मचन्द्रसूरि (वि०सं० १६८८ में दीक्षा, वि०सं०
 १७४४ में स्वर्गस्थ)
 |
 मुनिचन्द्रसूरि (वि०सं० १७२२ में आचार्य पद,
 वि०सं० १७४४ में भट्टारक पद,
 वि०सं० १७५० में निधन)
 |
 नेमिचन्द्रसूरि (वि०सं० १७५० में भट्टारक पद
 प्राप्त)

पार्श्वचन्द्रगच्छ की दूसरी पट्टावली^{१७} में पद्मप्रभसूरि से लेकर मुनिवृद्धिचन्द्र तक का पट्टक्रम प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है :

तालिका - ३

पद्मप्रभसूरि
 |
 प्रसन्नचन्द्रसूरि
 |
 गुणसमुद्रसूरि
 |
 जयशेखरसूरि
 |
 वज्रसेनसूरि
 |
 हेमतिलकसूरि
 |
 रत्नशेखरसूरि

हेमचन्द्रसूरि
 पूर्णचन्द्रसूरि
 हेमहंससूरि
 लक्ष्मीनिवाससूरि
 पुण्यरलसूरि
 पार्श्वचन्द्रसूरि
 समरचन्द्रसूरि
 राजचन्द्रसूरि
 विमलचन्द्रसूरि
 जयचन्द्रसूरि
 पद्मचन्द्रसूरि
 मुनिचन्द्रसूरि
 नेमिचन्द्रसूरि
 कनकचन्द्रसूरि
 शिवचन्द्रसूरि
 भानुचन्द्रसूरि
 विवेकचन्द्रसूरि
 लब्धिचन्द्रसूरि
 हर्षचन्द्रसूरि
 मुक्तिचन्द्रसूरि
 भ्रातृचन्द्रसूरि (वि०सं० १९२० में जन्म,
 वि०सं० १९३५ में दीक्षा,
 वि०सं० १९३७ में क्रियोद्धार,
 वि०सं० १९६७ में आचार्य
 पद, १९७२ में निधन)
 सागरचन्द्रसूरि (वि०सं० १९४३ में जन्म,
 १९५८ में दीक्षा, वि०सं०
 १९९३ में आचार्य पद,
 वि०सं० १९९५ में स्वर्गस्थ)
 मुनिवृद्धिचन्द्र

तृतीय पट्टावली तो गच्छ के प्रवर्तक पार्श्वचन्द्रसूरि से
 ही प्रारम्भ होती है। इसमें भी सागरचन्द्रसूरि तक का पट्टक्रम
 प्राप्त होता है,^{१८} जो इस प्रकार है :

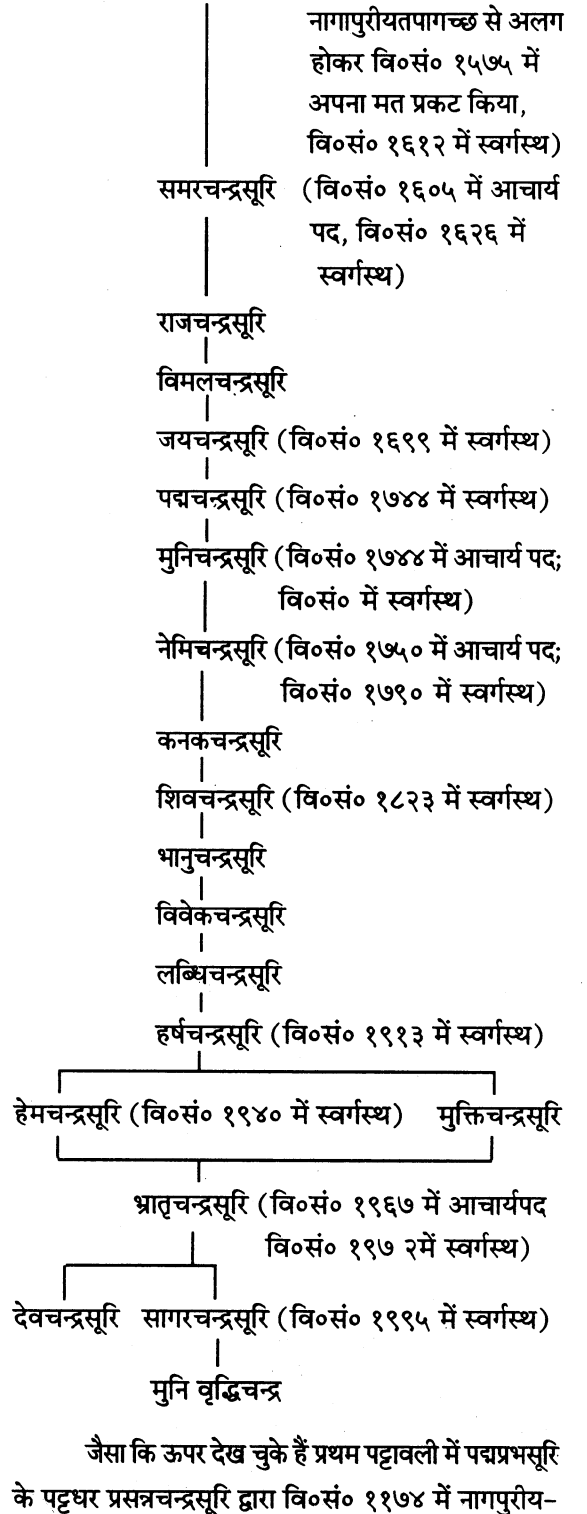
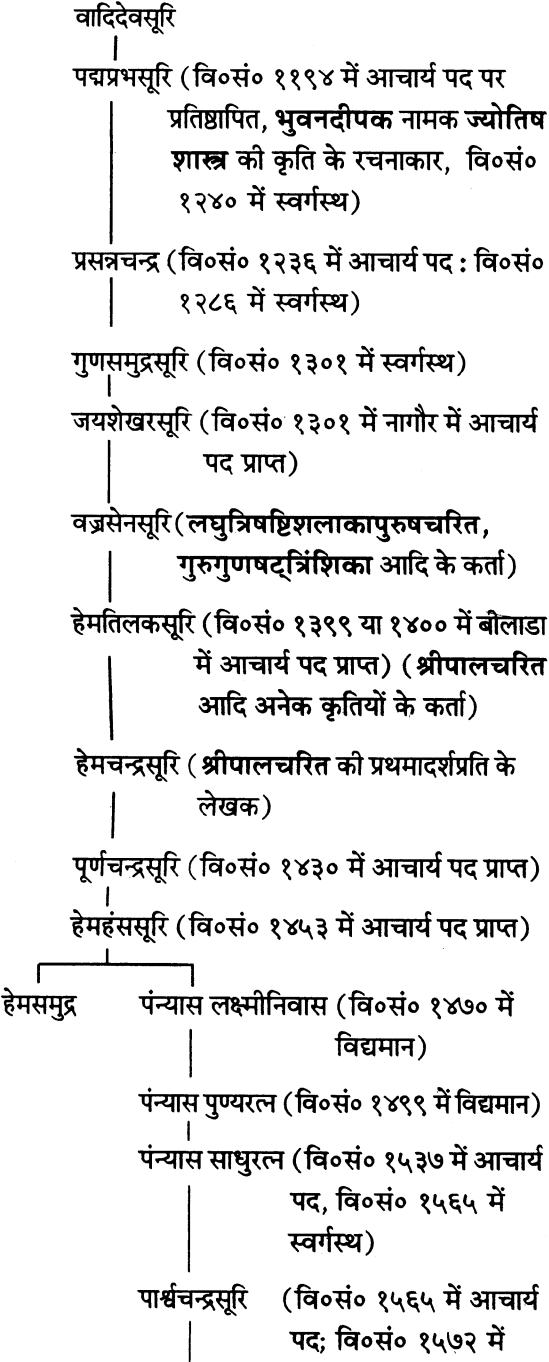
तालिका - ४

पार्श्वचन्द्रसूरि (वि०सं० १५७२ में नागपुरीय-
 तपागच्छ से अलग होकर
 वि०सं० १५७५ में अपना मत
 प्रकट किया)
 समरचन्द्रसूरि
 राजचन्द्रसूरि
 विमलचन्द्रसूरि
 जयचन्द्रसूरि (वि०सं० १६९९ में स्वर्गस्थ)
 पद्मचन्द्रसूरि (वि०सं० १७४४ में स्वर्गस्थ)
 मुनिचन्द्रसूरि (वि०सं० १७९७ में स्वर्गस्थ)
 कनकचन्द्रसूरि
 शिवचन्द्रसूरि (वि०सं० १८२३ में स्वर्गस्थ)
 भानुचन्द्रसूरि
 विवेकचन्द्रसूरि
 लब्धिचन्द्रसूरि
 हर्षचन्द्रसूरि (वि०सं० १९१३ में स्वर्गस्थ)
 हेमचन्द्रसूरि (वि०सं० १९४० में स्वर्गस्थ)
 भ्रातृचन्द्रसूरि (वि०सं० १९७२ में स्वर्गस्थ)
 सागरचन्द्रसूरि (वि०सं० १९९३ में स्वर्गस्थ)

चतुर्थ पट्टावली श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई द्वारा
 संपादित जैनगूर्जर कविओ भाग २ (प्रथम संस्करण) में दी
 गयी है^{१९}। इसमें भी आचार्य वादिदेवसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि

से लेकर देवचन्द्रसूरि तक का अपेक्षाकृत विस्तार से परिचय दिया गया है, जो इस प्रकार है :

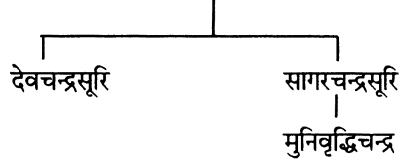
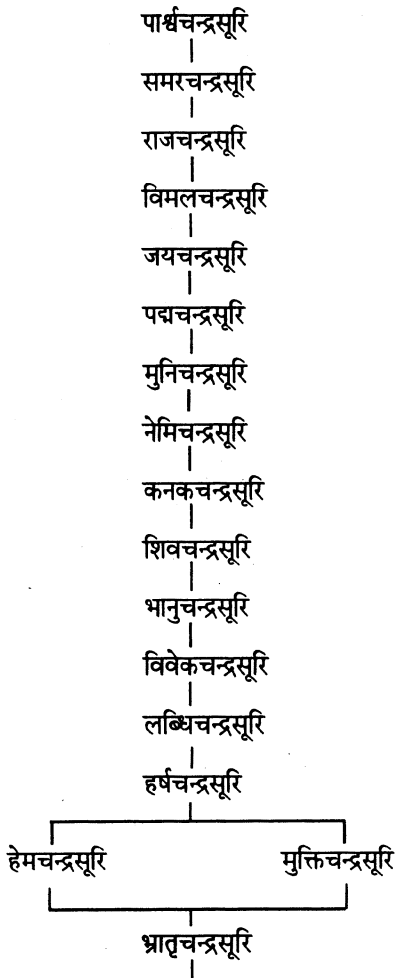
तालिका - ५



तपागच्छ की स्थापना का उल्लेख है। चूंकि नागपुरीय तपागच्छ से सम्बद्ध ग्रन्थ प्रशस्तियों^{२०} तथा अन्य सभी पट्टावलियों में समान रूप से पद्मप्रभसूरि को यह श्रेय दिया गया है, अतः उक्त विवरण को पट्टावलीकार की भूल मानी जाये अथवा लेहिया की या ग्रन्थ के सम्पादक की, यह विचारणीय है।

चूंकि पार्श्वचन्द्रगच्छ का प्रादुर्भाव नागपुरीयतपागच्छ के मुनि साधुरत्न के शिष्य पार्श्वचन्द्रसूरि से हुआ है और जैसा कि पट्टावलियों में ऊपर हम देख चुके हैं इनमें पार्श्वचन्द्रसूरि और इनकी शिष्य परम्परा में हुए पट्टधर आचार्यों का क्रम एक-दो नामों को छोड़कर प्रायः समान रूप से मिलता है, जिसे एक तालिका के रूप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :

तालिका - ६



पट्टावलियों से पार्श्वचन्द्रसूरि के केवल एक शिष्य समरचन्द्र का नाम मिलता है, किन्तु ग्रन्थप्रशस्तियों से उनके एक अन्य शिष्य विनयदेवसूरि का भी ज्ञात होता है, जिनसे सुधर्मागच्छ अस्तित्व में आया।^{२०अ} इसी प्रकार पट्टावलियों से जहां समरचन्द्रसूरि के एक शिष्य राजचन्द्रसूरि का नाम ज्ञात होता है, वहीं ग्रन्थ प्रशस्तियों से उनके दूसरे शिष्य रत्नचारित्र तथा प्रशिष्यों विमलचारित्र और वच्छराज का भी पता चलता है। इनके द्वारा रची गयी विभिन्न कृतियां मिलती हैं। राजचन्द्रसूरि के अन्य शिष्यों हंसचन्द्र, देवचन्द्र, श्रवणऋषि तथा उनके प्रशिष्यों पूंजाऋषि, वीरचन्द्र, मेघराज आदि के नाम ग्रन्थ प्रशस्तियों से ही ज्ञात होते हैं।

इसी प्रकार जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं पट्टावलियों में जयचन्द्रसूरि के पट्टधर के रूप में पद्मचन्द्रसूरि का नाम मिलता है। इनके द्वारा रचित शालिभद्रचौढालिया (रचनाकाल वि०सं० १७२१/ई० सन् १६६५) नामक एक कृति प्राप्त होती है। इनके पट्टधर मुनिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्रसूरि के नेमिचन्द्रसूरि हुए, जिनकी वि०सं० १७९८ में बीकानेर के श्रीसंघ ने चरणपादुका स्थापित करायी^{२१}। मुनिचन्द्रसूरि के पट्टधर कनकचन्द्रसूरि हुए जिनका नाम वि०सं० १८३२/ई० सन् १७७६ में प्रतिलिपि की गयी श्रीपालकथाटब्बा की दाता प्रशस्ति में भी मिलता है।^{२३} जैसा कि पट्टावलियों में ऊपर हम देख चुके हैं कनकचन्द्रसूरि के पट्टधर के रूप में शिवचन्द्रसूरि का नाम मिलता है। इनके द्वारा वि०सं० १८१५ में अपने गुरु कनकचन्द्रसूरि की चरणपादुका स्थापित करायी गयी।^{२४}

संवत् १८१५ वर्षे मासोत्तम श्री फाल्गुनमासे कृष्ण पक्षे षष्ठी तिथौ रविवारे श्रीपूज्य श्रीकनकचंद्रसूरिणां पादुका कारापिता च भट्टारक श्रीशिवचंद्रसूरिश्वरै :

कनकचन्द्रसूरि के एक अन्य शिष्य वक्तचन्द्र हुए जिनके एक शिष्य सागरचन्द्र ने वि०सं० १८८४ में अपने गुरु की चरणपादुका स्थापित करायी।^{२५}

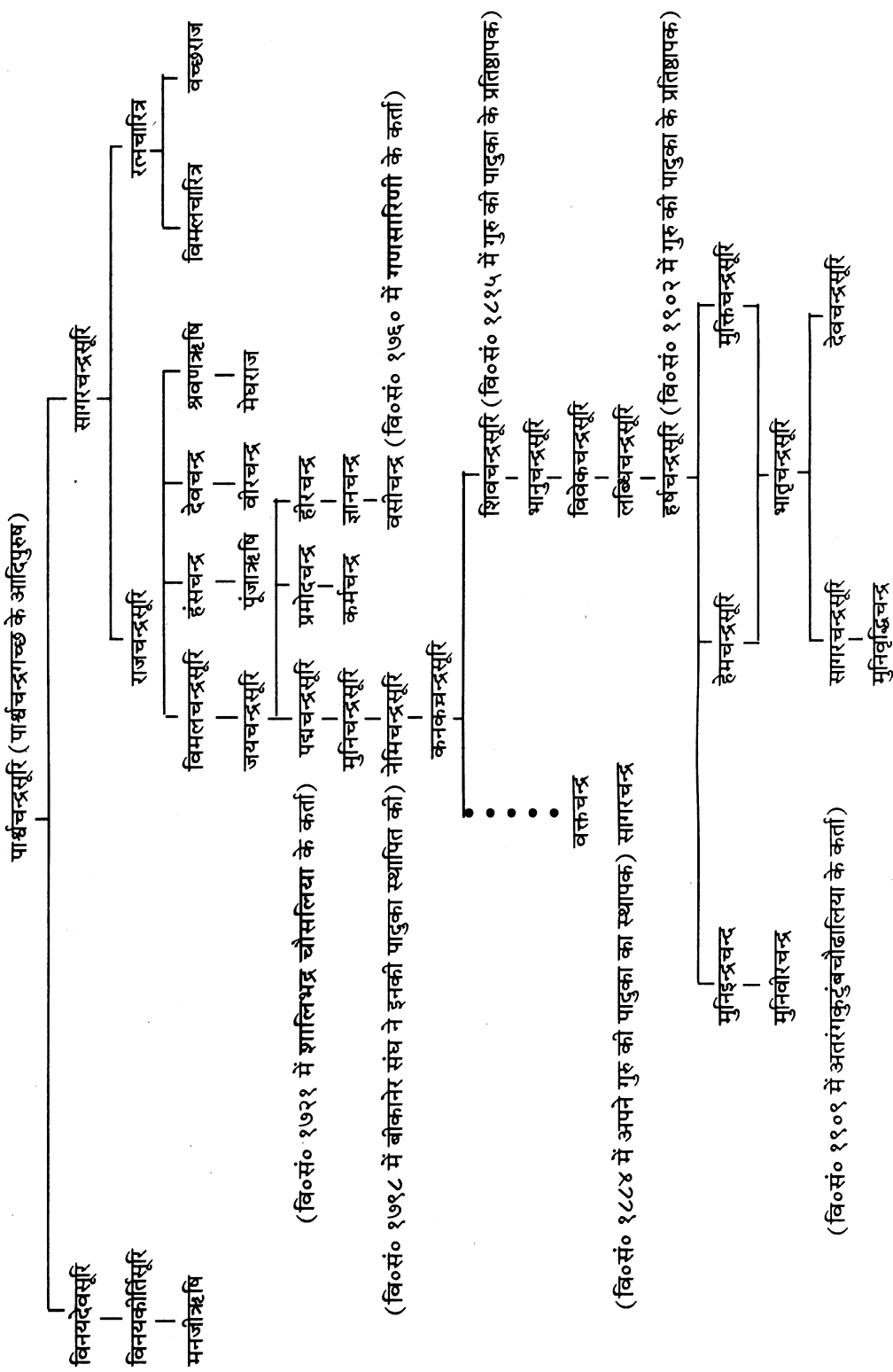
संवत् १८८४ मिति जेठ सुदि ६ शुक्रवारे भट्टारक श्री १०८ श्रीकनकचंद्रसूरिजी संतानीय पं० श्रीवक्तचंदजीकानां पादुका प्रतिष्ठापिता श्रीबीकानेर नगरे।

पट्टावलियों में उल्लिखित शिवचन्द्रसूरि के पट्टधर भानुचन्द्रसूरि और उनके पट्टधर विवेकचंद्रसूरि के बारे में किन्हीं अन्य साक्ष्यों से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्रायः यही बात विवेकचंद्रसूरि के पट्टधर लब्धिचंद्रसूरि के बारे में भी कही जा सकती है। इनके पट्टधर हर्षचन्द्रसूरि हुए, जो अपने समय के प्रभावशाली आचार्य थे। इनके द्वारा रचित चौबीसजिनपूजा नामक कृति प्राप्त होती है।^{३६} वि०सं० १९०२ में इन्होंने अपने गुरु लब्धिचंद्रसूरि की चरणपादुका स्थापित^{३७} की।

संवत् १९०२ शाके १७६७ प्र। मासोत्तमे आषाढ मासे वृषणपक्षे ८ अष्टम्यां तिथौ शुक्रवासासे श्रीपार्श्वचन्द्रसूरिगच्छाधिराज भट्टारकोत्तम भट्टारक पुरन्दर भट्टाराकाणां श्री १०८ श्री श्री लब्धिचंद्रसूरिश्चरणं पादुके प्रतिष्ठापिता तच्छिष्य भट्टारकोत्तम भट्टारक श्रीहर्षचंद्रसूरि जिद्धि श्रीरस्तुराम्।

वि०सं० १९०९ में अन्तरंगकुटुम्बकबीलाचौढालिया के रचनाकार वीरचन्द्र भी हर्षचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और मुनि इन्द्रचन्द्र के शिष्य थे।^{३८} जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं पट्टावलियों में हर्षचन्द्रसूरि के दो अलग-अलग शिष्यों हेमचन्द्रसूरि और मुक्तिचंद्रसूरि का नाम मिलता है और इन दोनों मुनिजनों के पट्टधर के रूप में भ्रातृचन्द्रसूरि का। भ्रातृचन्द्रसूरि के दो शिष्य सागरचन्द्र और देवचन्द्र हुए। इनका पट्टावलियों में ऊपर नाम आ चुका है। सागरचन्द्रसूरि के पट्टधर उनके शिष्य मुनि वृद्धिचन्द्र हुए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पट्टावलियों से जहां इस गच्छ के केवल पट्टधर आचार्यों के नाम ज्ञात होते हैं वहीं ग्रन्थ प्रशस्तियों तथा अभिलेखीय साक्ष्यों से पट्टधर आचार्यों के अतिरिक्त अन्य मुनिजनों के नाम भी ज्ञात हो जाते हैं। यह बात सभी गच्छों के इतिहास के अध्ययन के संदर्भ में प्रायः समान रूप से कही जा सकती है। उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों की एक विस्तृत तालिका निर्मित की जा सकती है, इस प्रकार है :

द्रष्टव्य - तालिका क्रमांक ७



वर्तमान में इस गच्छ के नायक मुनि मुक्तिचन्द्रजी हैं^{११}। इनकी निश्रा में ८ साधु और ६२ साध्वियाँ हैं, जो राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में विचरण कर रही हैं^{१०}।

संदर्भ :

१. मोहनलाल दलीचंद देसाई, जैनगूर्जरकविओ, भाग १, नवीन संस्करण, बम्बई १९८६ ई०, पृ० २८८-३०५.
२. वही, पृ० ३४३-३५०.
३. वही, पृ० ३४३-३५०.
४. वही, पृ० ३२१-३३३.
५. वही, भाग २, पृ० १९२-१३.
६. वही, पृ० १९४-१७.
७. वही, पृ० २९३-१७.
८. वही, पृ० २९३-१७.
९. वही, पृ० २८६-८७.
१०. वही, भाग ३, पृ० ८१-८३.
११. वही, पृष्ठ ४-८.
१२. वही, पृष्ठ ४-८.
१३. वही, भाग ४, पृ० ४२४
१४. वही, पृ० ४२८-३०.
15. A.P. Shah, *Catalogue of Sankrit & Prakrit Mss : Muniraja Shree Punya Vijayaji's Collection*, Vol. III, L.D. Series No. 15, Ahmedabad 1968 A.D. No. 6713, p. 429.
१६. मुनि जिनविजय, संपा० विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५३, बम्बई १९६८ ई०, 'नागपुरीयतपागच्छपट्टावली' पृ०४८-५२.
१७. मुनि कल्याणविजयगणि, संपा० पट्टावलीपरागसंग्रह, कल्याणविजय शास्त्रसंग्रह समिति, जालोर १९६६ ई०स०, पृ० २२८-२९.
१८. वही, पृ० २३०.
१९. जैनगूर्जर कविओं, प्रथम संस्करण, भाग २, पृ० ७५७-६४.
२०. द्रष्टव्य, सारस्वतव्याकरणदीपिका की प्रशस्ति A.P. Shah, *Ibid*, Part II, No. 5974, Pp. 376-77.
- २०अ. द्रष्टव्य, संदर्भ क्रमांक ४.
२१. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ४, पृ० ३१०-११.
२२. अगरचंद भंवरलाल नाहटा, संपा० बीकानेरजैनलेखसंग्रह, कलकत्ता १९५६ ई०स०, लेखांक २०१६, २०१७.
२३. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ६, पृ० ४१५.
२४. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक २०१३.
२५. वही, लेखांक २०१९.
२६. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ५, पृष्ठ ३७२.
२७. नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक २०१२.
२८. देसाई, पूर्वोक्त, भाग ६, पृ० ३५८-५९.
२९. बाबू लाल जैन 'उज्जवल' संपा० समग्र जैन चातुर्मास सूची-१९९५, बम्बई १९९५ ई०स०, पृष्ठ २८५-८७.

*

पूर्व-मध्यकालीन जैन अभिलेखों में वर्णित समाज

मंजु कश्यप*

पूर्व-मध्यकाल में जैन धर्म से सम्बन्धित लोगों द्वारा अनेक अभिलेख उत्कीर्ण कराये गये, जिनमें से अधिकांश अभिलेख प्रकाशित हो चुके हैं। जैन धर्म से सम्बन्धित बहुसंख्यक अभिलेख जैन शिलालेख संग्रह में संग्रहीत हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि इनमें सामाजिक गतिविधियों की जानकारी अत्यल्प है, परन्तु जितनी भी सूचनायें मिलती हैं वे जैन समाज के अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण हैं। अतः जैन अभिलेखों के आलोक में जैन समाज का निदर्शन वांछनीय है। जैन धर्म से सम्बन्धित अधिकांश अभिलेख दानात्मक या समर्पणात्मक हैं, जिनमें दानकर्ताओं के नाम का उल्लेख तो है, साथ ही उनकी जाति तथा व्यवसाय का भी उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त किसी-किसी अभिलेख से दान में दी गयी वस्तुओं से भी समकालीन व्यवसाय तथा उद्योग पर प्रकाश पड़ता है, परन्तु इस तरह की सूचनायें इतनी अत्यल्प हैं कि इसके आधार पर सामाजिक संगठन एवं विभिन्न वर्गों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करना कठिन है, फिर भी कुछ सूचनायें ऐसी हैं, जिनके आधार पर विभिन्न सामाजिक आर्थिक वर्गों का जैन धर्म के प्रति आकर्षण को संक्षेप में रेखांकित किया जा सकता है। ऐसे श्री नारायण दूबे ने अपने अध्ययन 'जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन' में इसकी विस्तृत चर्चा की है।

जैन ग्रन्थों में उल्लेखित बंधण, खत्तिय, वइस्स तथा सुद्ध^१ से ज्ञात होता है कि जैन परम्परा ने ब्राह्मण परम्परा द्वारा स्वीकृत वर्ण-व्यवस्था को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया था, परन्तु उन्होंने इसे जन्मना न मानकर कर्मणा माना था। जैन ग्रन्थों के विपरीत जैन अभिलेखों में इन चार सामाजिक वर्गों का उल्लेख न होकर दानकर्ताओं के राजनीतिक पद या उनकी व्यावसायिक जातियों का उल्लेख मिलता है, जो तत्कालीन सामाजिक संगठन के स्वरूप को प्रदर्शित करता है। पूर्व-

मध्यकालीन जैन अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि व्यक्तियों की जातियां उनके पारिवारिक व्यवसायों से सम्बद्ध थीं तथा उस समय वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गयी थीं, जबकि सामाजिक सम्बन्धों में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया था। सम्भवतः यही कारण रहा होगा जिससे जैन अभिलेखों में दानकर्ताओं के वर्णों का उल्लेख न होकर इनके पद तथा जातियों का उल्लेख मिलता है।

जैन ग्रन्थों में चतुर्वर्ण के अन्तर्गत उल्लेखित ब्राह्मण को श्रमणों के समकक्ष श्रेष्ठ माना गया है। जैन आगमों में श्रमण माहन (माहण) का उल्लेख हुआ है,^२ परन्तु यहाँ ब्राह्मणों को श्रमणों के समकक्ष मानना उनकी आचारगत श्रेष्ठता पर आधारित था न कि जन्मगत श्रेष्ठता पर। ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी कौन है? इसकी विस्तृत व्याख्या जैन ग्रन्थ 'उत्तराध्ययनसूत्र' में मिलती है,^३ जिससे स्पष्ट होता है कि सदाचारी ब्राह्मण तथा श्रमण के लक्षण समान थे और इसी कारण सदाचारी ब्राह्मण को श्रमण के समकक्ष माना गया था। जैन ग्रन्थ ब्राह्मण की जातिगत श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते। कल्पसूत्र में महावीर स्वामी के गर्भ परिवर्तन के सन्दर्भ में क्षत्रिय जाति को ब्राह्मण जाति की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है।^४ इस घटना का अंकन मथुरा के पुरातात्विक स्रोतों में भी मिलता है। जैन अभिलेखों में ब्राह्मण जाति का उल्लेख न तो दानदाता के रूप में है, न दानकर्ता के रूप में। ब्राह्मण जाति सामान्यतः दान देने की अपेक्षा दान लेने में विश्वास करती थी, जिसके कारण ब्राह्मणों द्वारा श्रमणों को दान देने का उल्लेख नहीं मिलता, जबकि जैन धर्मानुयायी सामान्यतः अपना दान जिनमन्दिर या श्रमणों को समर्पित करते थे। अतः जैन अभिलेखों में ब्राह्मण जाति का उल्लेख नगण्यप्राय है, परन्तु एक दुर्लभ अभिलेख है, जिसमें ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख मिलता है।^५

* शोध छात्रा, इतिहास विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

मथुरा के जैन अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि सामाजिक व्यवस्था में निम्न समझे जाने वाले लोगों की आस्था जैन धर्म में अधिक थी, क्योंकि जैन धर्म में ब्राह्मणों की जातिगत श्रेष्ठता तथा शूद्र की निम्नता का विरोध किया गया था। उत्तराध्ययनसूत्र से पता चलता है कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशबल महान साधक थे।^६ इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में निम्नवर्ग के लोगों को आने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था तथा उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता था। मथुरा के जैन अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि जिन्होंने जिनप्रतिमा आयागपट्ट आदि प्रतिष्ठापित कराये वे विविध शिल्पों से सम्बद्ध थे, जो उनके सामाजिक-आर्थिक स्तर के परिचायक थे। यहाँ के दो अभिलेखों में लोहवणिक एवं लोहकार श्रमण के पुत्र गोदृिक द्वारा दान देने का उल्लेख मिलता है।^{१०} यहीं के एक अन्य अभिलेख में सीह के पुत्र गोव (गोप) लोहकार द्वारा एक सरस्वती प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराने का उल्लेख मिलता है।^{११} अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि लोहकार तथा लोहवणिक अलग-अलग वर्ग के थे। लोहकार वर्ग के लोग लोहे की वस्तुयें निर्मित करते थे, जबकि लोहवणिक वर्ग के लोग लोहे की वस्तुओं का व्यवसाय करते थे। जैन आगमों के अनुसार लोहार वर्ग के लोग कृषि कार्य हेतु हल, कुदाल, आदि तथा लकड़ी काटने हेतु कुल्हाड़ी, बसुला आदि बनाकर बेचते थे। इनका व्यापार उन्नतिशील था।^{१२}

मथुरा के एक जैन अभिलेख में हेरण्यक (सोনার) द्वारा एक अर्हत प्रतिमा प्रतिष्ठापित किये जाने का वर्णन है।^{१०} इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में लोहार वर्ग के साथ ही साथ सोनार (स्वर्णकार) वर्ग के लोग भी रुचि रखते थे। इसकी पुष्टि साहित्यिक साक्ष्यों से भी होती है। जैन आगमों के अनुसार उस समय की स्त्रियाँ आभूषण- प्रिय थीं। सोने तथा चाँदी के आभूषण उन्हें बेहद प्रिय थे, जिसके कारण सोनारों का व्यापार भी उन्नतिशील था। बौद्धसूत्रों के अनुसार विशाखा के आभूषण तैयार करने में ५०० सोनारों ने दिन-रात कार्य करते हुए चार महीने का समय लिया था।^{११} मथुरा के ही कुछ जैन अभिलेखों में गन्धिकों (इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओं के व्यापारी) द्वारा अर्हत प्रतिमा के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।^{१२} इससे पता

चलता है कि उस समय सुगन्धित पदार्थों का बाजारों में क्रय-विक्रय होता था। सुगन्धित पदार्थों के विक्रयकर्ता को गन्धी तथा उनकी दुकानों को गन्धशाला के नाम से जाना जाता था।^{१३} उपर्युक्त जैन अभिलेखों से विदित होता है कि मथुरा के आस-पास विकसित विभिन्न शिल्पियों ने जैन धर्म को स्वीकार किया था। इन शिल्पियों का व्यवसाय इनके सामाजिक स्थिति का परिचायक है। जैन धर्म में इन शिल्पियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था तथा इनके द्वारा जैन धर्म को समर्पित वस्तुओं को ससम्मान स्वीकार किया जाता था।

शिल्पी वर्ग के लोगों के साथ ही जिनप्रतिमाओं तथा आयागपट्टों के समर्पणकर्ता श्रेष्ठिवर्ग के लोग भी थे।^{१४} कुछ दानकर्ताओं में शासक वर्ग एवं पदाधिकारी वर्ग के लोग भी थे।^{१५} उपर्युक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि जैन धर्म शिल्पी वर्ग, श्रेष्ठिवर्ग, शासक वर्ग, पदाधिकारी वर्ग आदि के द्वारा पोषित एवं पल्लवित हुआ। इनकी निष्ठा जैन धर्म में होने के कारण जैन समाज का स्वरूप विस्तृत हुआ।

जैन धर्म को श्रेष्ठियों का समर्थन पूर्व-मध्यकाल में ही मिलना प्रारम्भ हो गया था। क्योंकि अधिकांश जैन अभिलेख लगभग १००० ई० के बाद के हैं, जिनमें श्रेष्ठियों का जैन उपासकों के रूप में वर्णन हुआ है,^{१६} जैसे-मणिक सेट्टि,^{१७} वाचरयसेट्टि के जमाता वीररयसेट्टि,^{१८} नरसिंगरय सेट्टि,^{१९} तिप्पियसेट्टि,^{२०} जक्किसेट्टि,^{२१} कलियरमल्लि सेट्टि,^{२२} पट्टण स्वामी (नगर सेठ) वोण्डाडिसेट्टि के पुत्र नाडवल सेट्टि,^{२३} नागसेट्टि^{२४} इत्यादि। इसके अतिरिक्त पूर्व-मध्यकालीन बहुसंख्यक अभिलेख ऐसे भी हैं, जिनमें श्रेष्ठियों, सामन्तों सेनानायकों तथा राजाओं की पत्नियों द्वारा समर्पित दान का उल्लेख मिलता है। जैन उपासिकाओं द्वारा भी दान दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे स्त्रियों के मन में जैन धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा सामाजिक स्तर का पता चलता है। मथुरा से प्राप्त एक जैन अभिलेख में गणिकानादा, जो श्रमणों की उपासिका थी, गणिकानादा की बेटी वासा लेणशोभिका द्वारा अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा बहन के साथ अर्हतों की पूजा के लिये पूजागृह, जलकुण्ड तथा आयागपट्ट बनवाने का उल्लेख मिलता है।^{२५}

बौद्धों की तरह जैन धर्मानुयायियों ने भी गणिकाओं (नगर बधुओं) को सम्मान प्रदान किया तथा उन्हें श्रमणों की उपासिका के रूप में स्वीकार किया। यहाँ से प्राप्त एक अन्य अभिलेख से विदित होता है कि प्राचीन काल में गणिकाओं को भारतीय संस्कृति के एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया था। नर्तक फल्गुयश की पत्नी शिवयश द्वारा अर्हत् पूजा हेतु आयागपट्ट बनवाने का उल्लेख प्राप्त होता है।^{१५} एक अन्य अभिलेख में गन्धिक की पत्नी द्वारा जिनप्रतिमा दान देने का उल्लेख करता है।^{१६} १०६२ ई० के हुमच्च अभिलेख से पता चलता है कि वीरशान्तर की पत्नी चागल देवी ने वल्लिगावे में चागेश्वर नामक एक मन्दिर बनवाकर महादान पूर्ण करने के निमित्त बहुत से ब्राह्मणों को कुमारियाँ भेंट की।^{१७} जैन उपासकों द्वारा ब्राह्मणों को सम्मानित करने का यह दुर्लभ उदाहरण है। अभिलेख में उल्लेखित ब्राह्मण सम्भवतः पुजारी रहे होंगे तथा कुमारियाँ भेंट करने का उल्लेख देवदासी प्रथा की ओर इंगत करता है। १११२ ई० का आलहल्लि अभिलेख पाषाण शिल्पी कालोप (शासन के पदाधिकारी) द्वारा नर्तकियों को दान देने का उल्लेख करता है,^{१८} जो आश्चर्यजनक है। सम्भवतः ये नर्तकियाँ देवालयों में नृत्य करने वाली देवदासियाँ थीं तथा शासन के पदाधिकारी द्वारा दिये जाने वाले दान से स्पष्ट होता है कि उस समय देवालय की नर्तकियों या देवदासियों को

आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

अभिलेखों के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले धार्मिक क्रिया-कलापों को मान्यता प्राप्त थी तथा इस सम्बन्ध में स्त्री-पुरुषों में किसी प्रकार का भेद नहीं था। कुछ जैन अभिलेखों से तत्कालीन शिक्षा पद्धति पर भी प्रकाश पड़ता है। ८७५ ई० के सौदन्ति अभिलेख से पता चलता है कि राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण की अधीनता में रहने वाला अधिपति पृथ्वीराम, पूर्व में पूज्य ऋषि मैलापतीर्थ के कारेयगण में एक विद्यार्थी था।^{१९} इस विवरण से ज्ञात होता है कि जैन गण न केवल धार्मिक व्यवस्था का संचालन करते थे, अपितु ब्राह्मण तथा बौद्ध संघों की तरह शिक्षा की व्यवस्था भी करते थे। निश्चय ही गणों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा मूलतः धार्मिक रही होगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जैन अभिलेखों में प्राचीन भारतीय समाज का दिग्दर्शन एक अलग रूप में होता है। अधिकांश जैन अभिलेख दानात्मक हैं। दान करने वाले व्यक्ति जैन धर्म के सामान्य उपासक थे तथा विभिन्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के सदस्य थे। इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि पूर्व-मध्यकाल में जैन धर्म की सर्वाधिक लोकप्रियता व्यापारी वर्ग में थी, चाहे वे किसी वर्ण से सम्बन्धित रहे हों।

सन्दर्भ:

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/३३, विपाकसूत्र, १/५/६
२. आचारांगसूत्र, १/२/१३६
३. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/१९-२९
४. कल्पसूत्र, सूत्र संख्या -२७
५. जैनशिलालेख संग्रह, भाग -२, अभिलेख -१९८
६. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० -१२, श्लोक -१, २
७. जैन शिलालेख संग्रह, भाग -२, अभिलेख -३१, ५४
८. वही, अभिलेख -५५
९. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० -१९, श्लोक -६६
१०. जैन शिलालेख संग्रह, भाग -२, अभिलेख -६७
११. धम्मपद अट्टकथा -१, पृष्ठ -३८४ जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ -१४२
१२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग -२, अभिलेख -४१, ४२, ६२ तथा ६९
१३. जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० -१५४
१४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२, अभिलेख-१९४, १९७, २१८, भाग-४, अभिलेख-१३३, १४२, १५२, भाग-३, अभिलेख-३०५, ३१६, ३२७, ३६७
१५. वही, भाग-२, अभिलेख-९०-१०६, भाग-३ - अभिलेख-३३३, ३५६ भाग-४, अभिलेख-१३६, १६५, भाग-५ -अभिलेख -४१
१६. वही, भाग-२, अभिलेख-१९७, २००, २१८, भाग-३, अभिलेख-३०५, ३१६, ३६७, साउथ इण्डियन

- इंस्क्रिप्शन -भाग -२ -पृष्ठ ८९, एनुअल रिपोर्ट
ऑफ दी मैसूर आर्कियोलॉजिक डिपार्टमेन्ट, १९३२,
पृष्ठ १७१, एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन
एपिग्राफी, १९३३-३४, पृष्ठ -१२६
१७. एपीग्राफिया इण्डिका, ३०, पृष्ठ -२४३
१८. जैन शिलालेख संग्रह, भाग -४, अभिलेख -१४२
१९. वही, अभिलेख -१६३
२०. वही, अभिलेख -१६४
२१. वही, भाग -२, अभिलेख -२७४
२२. वही, अभिलेख -२९९
२३. वही, भाग -३, अभिलेख -३०५
२४. वही, अभिलेख -३६७
२५. वही, भाग -२, अभिलेख -८
२६. वही, अभिलेख -१५
२७. वही, अभिलेख -६२
२८. वही, अभिलेख -१९८
२९. वही, अभिलेख -२५३
३०. वही, अभिलेख -१३०

*

ENGLISH SECTION

- **Kuṣāṇa Art in Mathurā** **Prof. R. C. Sharma**
- **Contribution of Jainism to Indian Culture** **Dr. S.P. Pandey**
- **Religious Exclusion: a threat to Social Equality
in Jain perspective** **Dr. Vijaya Kumar**
- **Śrāvasti - The Sacred Place of Śramaṇa Tradition** **Km. Richa Singh**

Kuṣāṇa Art in Mathurā

Prof. R. C. Sharma*

Mathurā emerged as a celebrated school of sculptural art under the patronage of the Kuṣāṇa rulers. It was so prolific that the products were exported to far and distant places as Taxila and Begram in West, Candraketugarh and Mahāsthāna in East and Śrāvastī and Kuśīnagara in southern¹ Uttar Pradesh.

CHARACTERISTICS : The sculptural art of Mathurā is distinct by several peculiarities viz.

1. The media of artistic creation is usually red sand stone with creamish spots or the buff sand stone which sometimes contains dull red patches. In certain sculptures efforts are seen to remove the adverse effect of spots or patches through the application of a coat of colour.

2. Brāhmanism, Buddhism and Jainism flourished simultaneously at Mathurā during the Kuṣāṇa period hence the icons and shrines of all the three sects were fabricated in a large number. While Brāhmanism continued to be the religion of the masses, Buddhism received the royal patronage and Jainism had the following of the rich merchant community.

3. The symbols were replaced by the anthropomorphic representation of the deities.

4. Despite heavy religious impact the Mathurā school of art maintained its secular spirit. The skilled workers and artisans worked for different creeds according to the demand. The

spirit of secularism is further marked by the depiction of symbols, decorative motifs, flora and fauna and social and folk scenes common to all sects.

5. Assimilation of different artistic forms and fusion of a great deal of alien traits were the important features of the Mathurā School. The outburst and natural reflection of the contemporary social, religious and political movements has to be estimated in the proper perspective. Mathurā art during the Kuṣāṇa age actually served as a bridge to correlate and unite two distinct currents, i.e. indigenous and alien and this task was successfully accomplished through the dynamic force of adaptability, fusion, amalgamation and interaction.

6. Presentation of female beauty to serve as a vehicle of art was a novel experiment of Mathurā studio. In the earlier monuments of Bharhut and Sanchi the women-folk is seen rather unconcerned with this phenomenon. Their function is either to worship if represented in mundane form or to receive worship if elevated to the super human status of *devatā* or *yakṣī*. But the Kuṣāṇa period sculptor at Mathurā viewed the feminine beauty from a different angle. Arrested by beautiful face, long hair, heavy hips, voluptuous breasts, graceful movements, attracting looks and inviting gestures he transformed and further fructified his revelation into the sculptural

* Former Director, Bharat Kala Bhavan, B.H.U. Varanasi).

creations which blended the fervour of sensuous emotions in religious and spiritual environment.

7. Some names of the artists of Mathurā School have been noticed recorded on the pedestals of sculptures. Of the Kuṣāṇa period artists mention may be made of Rāma, Dharma, Sanghdeva, Jotiṣa, Dāsa, Śivarakṣita, Singha, Nāyasa, Deyahu, Viṣṇu and Jayakula.²

After highlighting the important characteristics of the Kuṣāṇa Art in Mathurā it is now proposed to present a bird's eye view of representative products of the school.

Brahmanical Icons

In Kuṣāṇa period the Brahmanical pantheon developed manifolds and the main deities carved were as under:

Viṣṇu: Early Brāhmanism or Hinduism at Mathurā was based on the Viṣṇu or Vāsudeva cult and it was but natural that the Mathurā artist conceived the icons of Viṣṇu and his associates at an early stage. The Viṣṇu figures have been found in different forms. The two-arm representation seems uncommon (Mathurā Museum No. 1150).

The four armed icons hold a mace (*gadā*), disc (*cakra*), waterpot (*kamaṇḍalu*), and the fourth hand either remains in protection (*abhaya*) or in boon bestowing (*varaḍa*) pose (Mathurā Museum No. 15.912, 15.948, 28.1729, No. 34.2520, and 34.2487 fig. 1). Sometimes the mace is replaced by the conch (*śaṅkha* No. 57.4267). The lotus (*padma*) does not appear in this period. The eight-armed figures of Viṣṇu are also met with but as the hands are broken the attributes remain obscure (No. 15.1010 and 50.3550) and Lucknow Museum No. 49.247). In one sculpture the deity is seen mounting on his vehicle *Garuḍa* in bird form (No. 39.2858).

The concept of incarnation was in its infancy as evident by only a few specimens. The Lucknow Museum stele (No. J. 610) probably shows the giant (*trivikrama* or *virāṭa*) form. The boar incarnation (*varāha*) has been identified in another stele (Mathurā Museum No. 65.15). The deity is lifting the earth who is seen personified on his left shoulder.³ A fragmentary sculpture in the Mathurā Museum (No. 17.1344) is interpreted as Vasudeva crossing the river Yamunā with a basket over his head. Yet another stele (No. 19.1563) may probably be identified as Rāma and Sītā.

The cosmic (*caturvyūha*) form of Viṣṇu is seen manifested in an image of the Mathurā or Kṛṣṇa, emerge other figures from his right shoulder and head. The existence of the third figure is indicated by the remains on the left shoulder. At present only Balarāma is recognised with the snake canopy and the cup. The high crown and *vanamālā* (garland made of the forest leaves and flowers) of the main deity are noteworthy.

Balarāma

The cult of Balarāma, elder brother of Kṛṣṇa, was already established as suggested by the discovery of an earlier image from Junsuti, Mathurā (Lucknow Museum No. G. 215). In Kuṣāṇa period the figures of Balarāma are seen with two or four arm holding a cup in the left hand and the right hand raised up in the protection pose (*abhayamudrā*). Conceived as incarnation of the cosmic serpent Śeṣa, Balarāma is shown with a snake canopy. (Mathurā Museum No. 14.404). Sometimes he carries a lion staff plough (Sirṅhalāṅgala hala). Rarely between Balarāma and Kṛṣṇa stands a female deity, identified as Ekananśā, sister of the two brothers (Mathurā Museum No. 67.529).

Śiva

Numerous finds suggest that Mathurā was a seat of the Śaiva cult also. The depiction of Śiva with Nandī on some of the coins and the epithet of 'Māheśvara' used by Vema Kadphises indicate that some of the Kuṣāṇa rulers were the followers of Śaivism.

Śiva in Kuṣāṇa period is represented in two forms viz. *Linga* (phallus form with the nut portion projecting from the shaft and fastened with a flat band, (Mathurā Museum No. 83.3) and Puruṣa (anthropomorphic form). Quite often a combined aspect is also seen and in this case the *linga* is shown with one face, two faces, four faces or five faces, The heads known as *tatpuruṣa*, *aghora*, *vāmadeva*, *sadyojāta* *iśāna* face east, south, west, north and upper direction respectively. The Ardhanārīśvara form (composite figure of Śiva and his spouse Pārvatī) is also met with from the early Kuṣāṇa period. In this form the right half is generally represented as male with matted hair, half-vertical third eye and the organ in upward position (*ūrdhvaretas*). The left female half is shown graceful with earring, anklet etc, (Mathurā Museum No.34.2520. first deity).

Kārtikeya

Skanda or Kārtikeya was also a favourite deity in the Kuṣāṇa iconography at Mathurā. The texts ascribe him as son of Śiva⁵ and also of Agni.⁶ He is known as god of war and commander of the divine army (*devasenānī*). In the Kuṣāṇa period he is shown as two-armed youngman wearing a crown or turban holding a long spear in the left hand and the right hand in the protection pose (Lucknow Museum No. 57.458). An image of this deity in the Mathurā Museum (No.42.2949) dated in the year 11 levels *Kārtikeyasya pratimā*.

He is sometimes shown with a cock or a peacock (Mathurā Museum No.33.2332). A bronze plaque unearthed from the excavations at Sonkh could be identified as Kārtikeya.⁷ His nativity is also sometimes shown with one or more mother goddesses (*mātrikās*), holding a child and with a jar (Lucknow Museum No.O.250).

Gaṇeśa, the younger brother of Kārtikeya appears late on art but a post Kuṣāṇa period statuette represents him, an elephant headed nude dwarf wearing a snake thread (*vyāla Yajñopavīta*) and eating the sweet balls (*laddūs*) with his trunk (Mathurā Museum No.15.758).

Sūrya

The Sun god (Sūrya) in Kuṣāṇa period is seen squatting in car drawn by two horses and wearing a coat with embroidery work, trousers, turban and shoes and holding a stalked lotus bud in right and a dagger in the left hand. The whole appearance suggests an alien treatment as marked on the contemporary royal portraits (Mathurā Museum No.12. 269). These tight features are subsequently relaxed and the number of horses also increases from two to four (No.D.46). Here the nimbus looking like the disc of the sun is also added. The wings on the shoulders remind us of the early Vedic concept of the sun-bird Garuḍa.⁸

Yakṣas

The dominating *Yakṣa* cult of earlier age at Mathurā was subdued with the emergence of other popular deities in the Kuṣāṇa period hence the *Yakṣas* were made grotesque, dwarfish with pot belly (Mathurā Museum No.C.3) and serving as attendants. Their mundane and lower nature is indicated by the depiction of excessive drinking (No.C.2) sometimes explained as Bacchanalian scenes suggesting a Greek impact through

Gāndhāra art.⁹ The *Yakṣas* are also seen carrying a bowl or supporting some load.

Nāgas

The *Nāga* (snake) worship was also prevalent at Mathurā in the Kuṣāṇa period. Beside the icons of Balarāma, we come across the independent images of the *nāga* deities in human form but surmounted by the snakehoods and holding a cup in the left hand the right hand raised up in the protection pose (No.C.13). The site of Sonkh has revealed the remains of a *nāga* shrine of the Kuṣāṇa period. One lintel depicts the *nāgas* and *nāgis* with a snake scalp while the devotees or visitors bear the turban (So IV-36).

Duel between the *nāga* and *garuḍa* (bird deity) has also been shown (41.2915). The *garuḍa* figures were carved in bird as well as in human form.

Female deities

A large number of female deities or mother goddesses of Kuṣāṇa period have been recovered from Mathurā. The important ones are Gajalakṣmī (No. 34.2520, third deity). Lakṣmī, Hārītī, *Yakṣīs*, *Mātrkās*, *Sasthī*, *Nāgis*, etc, A popular goddess of the age was Durgā or Mahiṣasuramardīnī (No. 33.2317).

Eclectic figures

A few sculptures from Mathurā suggest that efforts were made to avoid disharmony between the different sects growing simultaneously in the Kuṣāṇa age. An interesting example is a stele in the Mathurā Museum (No. 34.2520) representing four deities at one place viz. Ardhanārīśvara, Viṣṇu, Gajalakṣmī and Kubera (the lord of the *yakṣas*).

Jaina Figures

The excavations conducted by A. Führer in the years (1888-91 at the Kankālī mound,

Mathurā yielded hundreds of Jaina antiquities, most of which are housed in the state Museum, Lucknow.¹⁰ These range from the 2nd century B.C. to the 12th century A.D. but the majority belongs to the Kuṣāṇa period. (Figure - 2) The *āyāgapāṭas* serve as the base for the development of the Jaina pantheon and some of them belong to the pre-Kuṣāṇa era, and at least one record the name of Mahākṣatrapa Śoḍāṣa (Lucknow museum No. J.1). Since these belong to the transitional phase between the representation of symbols and inception of icons. These may be dated from the pre-Kuṣāṇa to the early Kuṣāṇa epoch.

The *āyāgapāṭas* according to the central theme may be classified differently i.e. *Cakrapāṭa* (representing wheel J. 225). *Svastikapāṭa* (representing auspicious cross J. 252). *Caityapāṭa* (showing the *stūpa* or *cāitya* J. 255), with a beautiful railing, gateway flanked by two female dancers and the nicely undercut epigraph recording that the stone tablet was set up by the wife of a dancer Phalguyasa for the worship of *arhata*, and the *arhatapāṭa* or *tīrthanakarapāṭa* when the *Jina* (main deity) is carved replacing the symbol (J.252). Some of these tablets depict a variety of beautiful motifs, which were conventionalised as eight auspicious symbols (*aṣṭamaṅgalacinhas*).

The Kuṣāṇa period *Jina* images are generally broad chested, stiff and shaven headed or with small hair. The mark of *Śrīvatsa* on the chest of a *Jina* is an essential feature at Mathurā. The palms and soles are usually marked with *triratna* or *cakra* as cognizances of great man (*Mahāpuruṣa lakṣaṇa*). In early phase the halo round, the head is plain, devoid of any concentric band but carved with scalloped border *hastinakha*. With the passage of time the decoration on the

field of halo increases. The *Jina* or *Tirthankara* statues are found in three postures viz. standing in austerity (*Kāyotsarga* No J. 76) and fourfold *sarvatobhadra* No. J. 235).

It is not possible to identify all Jainas in the Kuṣāṇa period for want of cognizances, which developed subsequently. Rṣabhanātha can, however, be identified by the fall of hair on the shoulders and Pārśva or Supārśva with a snake canopy. The depiction of life events of *Jinas* is a rare site but a Kuṣāṇa period stele is explained to illustrate the episode of the transfer of embryo of the last *Jina* Mahāvīra from the womb of Brāhmaṇī Devānandā to that of Kṣatriyāṇī Triśalā (No, J. 626). Neminātha, the twenty-second *Jina* who is described as cousin of Kṛṣṇa was represented flanked by Balarāma and Kṛṣṇa.

The pedestals of the *Jina* images are of considerable significance to reconstruct the contemporary cultural history. Beside the epigraphs with date, we get a good glimpse of the Kuṣāṇa period society and of the organisation of the Jaina Church. Apart from the *Jina* images some other sculptures of the Jaina pantheon are also important. The headless image of squatting Sarasvatī (J.24) dated in the year 54 labels the deity as Sarasvatī. The elevated souls (*siddhas* and *munis*) hiding their nudity with a piece of cloth (*ardhaphālaka* J. 623) are also met with.

Buddhist Sculptures

The Kuṣāṇa art of Mathurā earned its real fame in producing hundreds of excellent Buddhist images which were installed not only in the Mathurā region but also exported to the distant quarters of the country. The evolution of the Buddha image was an important landmark in the history of world art and Mathurā has made a great

contribution in this regard. The credit of the origin of the Buddha figure is given to Gāndhāra and Mathurā both but the religious background and long established art tradition provided a more commensurate atmosphere for the evolution of the Buddha figure at Mathurā slightly earlier than the commencement of the Kuṣāṇa rule.¹¹

Before the emergence of the Buddha in human form in art, the Master's presence was conveyed through different symbols viz. elephant for birth, horse for renunciation, tree for enlightenment, wheel for turning the wheel of Law and *stūpa* for demise. These symbols were prevalent in the pre-Kuṣāṇa period at Mathurā and continued for sometime even after the introduction of the human form.

The pre-Kaniṣka Buddha figures are characterized by the snail shell (*kaparda*) on head, inconspicuous drapery marked by the incised line on the left shoulder, deep navel, pedestal with three tiers or two lions supporting the seat, no date or era recorded and corpulent body with *vakṣa* impact giving crude, primitive and archaic look. The notable figures are B. 12 b, J. 531, J.295 or 339 all in Lucknow and H.2, M.3. 76. 104, A. 66 in the Mathurā Museum.

Soon a set formula was evolved and an ideal form of the Buddha was conceived in the beginning of the reign of Kaniṣka with the following features high relief, nimbus bearing scalloped border, back slab showing foliage of *bodhi* tree, two celestials hovering in sky, acolytes flanking the deity, top of hair shaped like snail shell, remaining head being smooth, right hand in protection and the left resting on the left knee, earlobes small, circular *ūṃ* mark on the forehead, almond shaped wide open eyes and slightly smiling

expression on the face.¹³ The best example is the Buddha (recorded as Bodhisattva in the epigraph) from the *Katrā* mound (Mathurā Museum No.A.1)

During the reign of Huiṣka the Mathurā school experienced the Gāndhāra impact and the change in the drapery covering both the shoulders (*ubhayāśika saṅghāṭī*) Mathurā Museum No.A.4, fig.3). The influence penetrated deeper during the last years of the reign of Huiṣka when the drapery becomes thick and stiff with broad pleats (Mathurā Museum No.76.17). The distinction between the Buddha and the Bodhisattva was made clear and now the Buddha was shaped as monk while the Bodhisattva was adorned with crown and ornaments giving a princely look (Lucknow Museum No.B.26). Beside the protection *abhaya* pose we now notice a few more postures viz. meditation (*dhyāna*), earth touching (*bhūmi-parśa*), preaching or teaching *upadeśa* or *vyākhyāna* and turning the wheel of law (*dharmacakrapravartana*).

The Buddhist pantheon grew manifold and the discovery of a pedestal recording the name of Amitābha Buddha in the year 26 or 28 proves that the tradition of the Dhyāni Buddha was prevalent at the beginning of the reign of Huiṣka.

Portraits

The Mathurā School of art during the Kuṣāṇa period introduced the royal portraits also.¹⁵ These life size or heroic statues of Vema Kadphises, Caṣṭana and Kaniṣka were discovered from the mound of Ṭokrī or Iṭokrī near Māt in the Mathurā District. The epigraph on the pedestal of the statue of Vema (Mathurā Museum No. 18.215) informs that a *devakula* was constructed on the site. It may be explained as a 'portrait

gallery' of the Kuṣāṇa kings who used the title of *devaputra*. As the statues bear lot of central Asian impact, a section of scholars believes that these royal portraits were the creations of foreign sculptors settled at Mathurā.¹⁶ Of the royal portraits the headless statue of '*Mahārja rājātirāja devaputro kaniṣko*' suggests a very forceful treatment (Mathurā Museum No. 12. 213).

Architecture

Thousands of architectural fragments have been unearthed from Mathurā and these belong to all the three major religions. The Buddhism, however, surpassed Brāhmanism and Jainism as we get the direct or indirect references of about forty Buddhist establishments most of which belonged to the Kuṣāṇa period.¹⁷ The *stūpa*, which preserved the relics of a pontiff or great man, was the common site. Its railing consisting of the basement stone (*alambanapiṇḍikā*), pillar (*thaba*), crossbar (*sūcī*) and coping (*uṣṇīṣa*) was the centre of attraction. It was tastefully carved with auspicious motifs, scrolls religious and social scenes, *Jātaka* narrations (stories of the previous births of the Buddha), life events of great men etc.

The sculptors derived much pleasure in presenting the female beauty in the most attractive fashion. The railposts are carved with ladies in different charming and graceful actions viz. plucking the flowers or bending the branch of the tree (*śālabhañjikā*), applying cosmetics (*prasādhana*), playing in the garden (*udyānakrīḍā*), holding a lamp (*dīpadhāriṇī*), fixing the necklace or girdle, playing in flute, feeding a parrot etc.¹⁸ A young woman is seen squeezing her hair after bath and the swan below, is cages to receive and swallow the fallen drops. Her midi skirts adds further charm (Mathurā Museum No.18.1509, fig.

16). A pillar of the staircase depicts a lady probably carrying a toilet basket and a flask. The full-blown *campā* flowers on top are really beautiful (No.14.369). The railposts revealed from Bhuteshwar in the western vicinity of Mathurā towns are some of the superb creations of Kuṣāṇa art of Mathurā. The lady fastening her garment and mounting on a dwarf, who seems to enjoy the kicks of the damsel, in one of such specimens (J.4). There are some outstanding pillars in the Indian Museum, Calcutta (fig.4). A bracket figure, which joined the doorjamb with architrave in a *nāga* shrine at Sonkh, shows a young girl in the *śālabhañjikā* pose (holding the branch of the tree No. So IV-27). One railpost from Chaubara mound is interpreted to represent the ecstasy of Rṣyaśringa when he had the maiden experience of the company of the women (J.7).

A square umbrella in the (Mathurā) Museum (No.76.12) is important for the fact that it belongs to the period when the tower (*śikhara*) of a shrine had not developed and such umbrellas served as roof of which the ceiling was richly decorated with full blown lotus and other motifs. In the present sculpture these eight auspicious motifs (*aṣṭmaṅgalacinhas*) are conch (*śaṅkha*), basket of fruits or gems (*ratnapātra* or *phalapātra*), full vase (*maṅgalakalaśa*), mystic cross (*svastika*), a pair of fish (*matsyayugma* or *mīnamithuna*),

and three jewels (*triratna*). The three undercut grooves and two postholes explain its position as roof for a shrine.

Impact

Thus the sculptural art of Mathurā in the Kuṣāṇas period was in the most creative and blooming stage and its products were in heavy demand throughout the northern India. The impact of Mathurā art is seen on other contemporary and subsequent sculptural styles. As already discussed it borrowed several traits from Gāndhāra no doubt, but it was the mutual give and take. The *Jātaka* narration, lotus seat, drapery covering one shoulder, symbolic representation, protection pose, monks wearing *dhotī* and scarf, lion throne etc. Were some of the important Mathurā trends, which were adopted in Gāndhāra.

Similarly the second phase of development at Amarāvātī owes much inspiration from Mathurā. This may particularly be said about transformation of anionic representation to the human form of the Buddha. Coomaraswamy traced Gāndhārī impact at Amarāvātī through Mathurā.¹⁹ The Sarnath school which developed in the Gupta period had its foundation on the late Kuṣāṇa art of Mathurā.²⁰ The contribution of Mathurā towards the development of Indian art and particularly in the sphere of Buddhist art has been marvelous and of far-reaching consequences.²¹

References

1. Sharma. R.C. , *Buddhist art of Mathurā*, Delhi, Agam Kala Prakashan 1984, P. 128
2. *Idid*. P. 139.
3. Joshi, N.P, 'Catalogue of the Brahmanical Sculptures in the state Museum Lucknow', Lucknow, State Museum, 1972, P.7
4. *Ibid*, P. 16
5. *Matsyapurāṇa*, ch, 158 and *Kumārasambhava* of Kālidāsa, 10.57-60.
6. *Mahābhārata (Vanaparva)*, Ch. 225-30 and *Skandapurāṇa, Maheśvarakhaṇḍa* Ch- 27.31
7. Hartel, H. 'Some results of the Excavations of Sonkh', *German scholars on India*, Bombay, Nachiketa Publications, 1976, 91 P. fig. 34

8. Banerjee, J.N., *Development of Hindu Iconography*, Calcutta, University of Calcutta, 1956, 434 P.
9. Smith, V.A.' Greco-Roman Influence on the Civilization of Ancient India, *Journal of Asiatic Society of Bengal*, Vol, LVIII, 1889, part I, 140 and 156 P
10. Smith, V.A. *The Jaina Stūpa and other Antiquities of Mathurā*, Allahabad Government Press, 1901
11. Van Lohuizen-de-Leeuw, J.E. *The Scythian Period*, Leiden, E.J.Brill, 1949, 171. p
12. Sharma, R.C. *Op. Cit.* 173-75 P.
13. *Ibid.* 176-77 P.
14. *Ibid.* 220-23 p.
15. Rosenfield, J.M. *Dynastic Arts of the Kuṣāṇas*, California University of California 1967, Chapter VI.
16. Saraswati, S.K. *A Survey of Indian Sculptures*, Delhi, Munshi Ram Manohar Lal, 1975, 69 P
17. Sharma, R.C, *Op.Cit.* 52-58 P
18. Agrawal, V.S. *Indian Art*, Varanasi, Prithivi Prakashan, 1965, 225 p.
19. Coomaraswamy, A.K, *History of Indian and Indonesian Art*, New York Dover Publications, 1965, 70-71 p.
20. Saraswati, S.K. *Op. Cit.* 135 p. and Sharma, R.C. *Op. Cit.* 241 p.
21. Before closing the discussions on the Kuṣāṇa art in Mathurā it may be useful to point out that sometimes the dated sculptures do not

correspond with the stylistic development for want of a specified era and this situation has given rise to various speculations. For the solution of the problem Van Lohuizen considers the omission of the digit of hundred and Rosenfield discounts 98. B. Mukherjee and G.S. Gai do not agree with these views, The present author also surveyed this controversy in detail in the light of the earlier discussions and some new finds. The complexity has to be studied in the light of inscriptional and stylistic evidence and also keeping in view the contemporary social, religious, political and economic factors. (Sharma, R.C. *Buddhist Art- Mathurā School*. Wiley Eastern Ltd. New Delhi, 1995, P. 194).

List of Illustrations

1. Four-armed Viṣṇu, 2nd century A.D. Spotted red sandstone ht. 33 cms. Mathurā Museum No. 34. 2487
2. Head of a Jina, C, 2nd century A.D. spotted red sandstone ht, 185 cms. Prince of Wales Museum, Mumbai, No. 98.
3. Buddha in *abhaya* pose spotted red sandstone, ht. 79. Cms. early 2nd century A.D. Mathurā museum No. A. 4
4. yakṣī Rail=post, Bhūteśvara Temple, c 2nd century A. D. red sandstone, ht, 122 cms. Indian Museum, Calcutta.

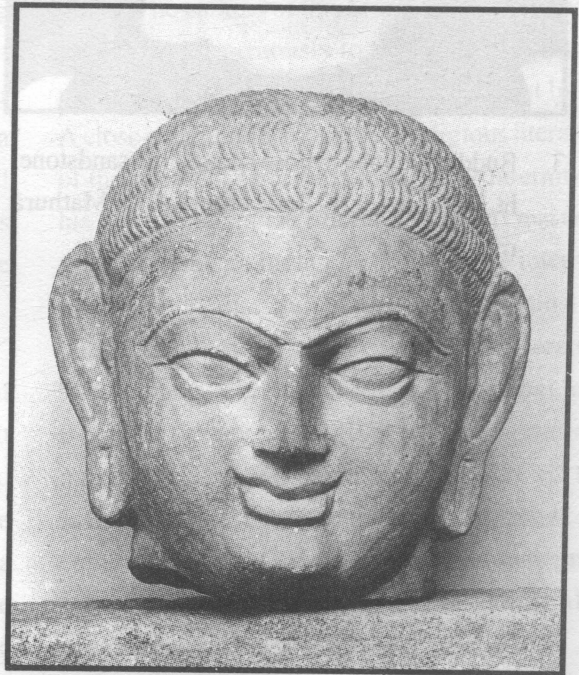
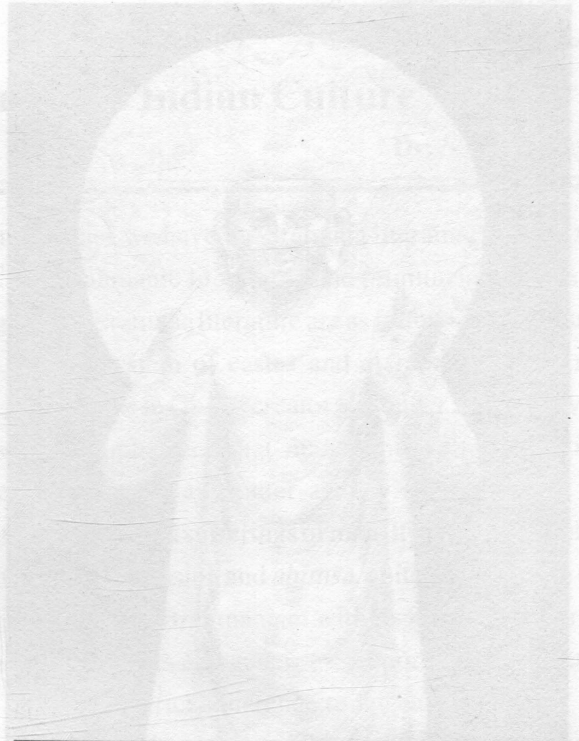
Acknowledgement

All the photographs with courtesy of the American Institute of Indian Studies, Varanasi.





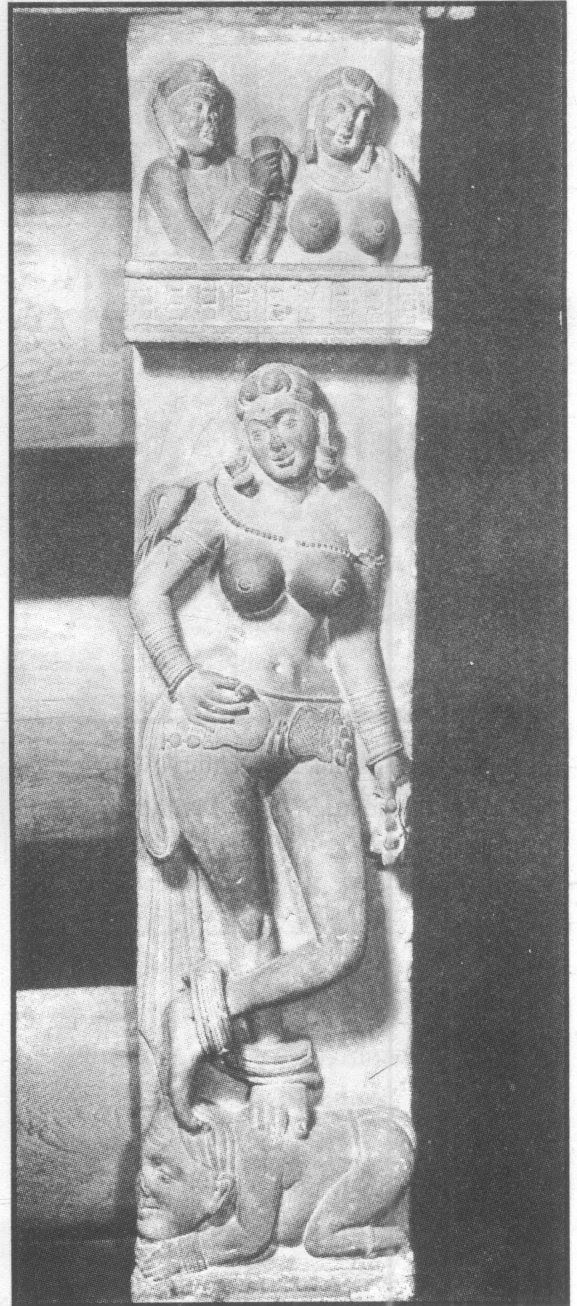
1. Four-armed Viṣṇu, 2nd century A.D. Spotted red sandstone ht. 33 cms. Mathurā Museum No. 34. 2487



2. Head of a Jina, C, 2nd century A.D. spotted red sandstone ht, 185 cms. Prince of Wales Museum, Mumbai, No. 98.



3. Buddha in *abhaya* pose spotted red sandstone, ht. 79. Cms. early 2nd century A.D. Mathurā museum No. A. 4



4. yakṣī Rail=post, Bhūteśvara Temple, c 2nd century A. D. red sandstone, ht, 122 cms. Indian Museum, Calcutta.

Contribution of Jainism to Indian Culture

Dr. S.P. Pandey*

It is evident that Jainism is an ancient religion of India and that right from hoary antiquity¹ to the present day it has continued to flourish along with other religions, in different parts of India. Jainas, the followers of Jainism, are, therefore, found all over India from ancient times. The Jainas are also known everywhere for the strict observance of their religious practices in their daily lives. That is why Jainism could survive in India for the last so many centuries. The Jainas, in this way, succeeded in continuing to exist as devout followers of a distinct religion in India.

But this is not the only distinguishing feature of Jainas in India. In fact, the most outstanding characteristic of Jainas in India is their very impressive record of contributions to Indian culture. In comparison with the limited and small population of Jainas, the achievements of Jainas in enriching the various aspects of Indian culture are really great and commendable.

Languages and Literature

Perhaps the most creditable contribution of Jainas is in the field of languages and literature. It is quite evidence that right from the Vedic period two different currents of thought and ways of life known as (a) Brāhmaṇa culture and (b) Śramaṇa culture are prevalent in India. The Śramaṇa culture is mainly represented by the Jainas and the Buddhists and of them the Jainas were the first to propagate that culture. That is why from ancient

times we have the Śramaṇa literature besides the Brahmanic literature. The prominent features of the Śramaṇa literature are as follows: It disregards the system of castes and *Āśramas*. It does not believe in God as creator, sustainer and destroyer. It emphasizes that man is himself his destiny maker. No any outer agency is responsible for sorrow and sufferings of man. It teaches a morality of compassion and *ahimsā*, quite distinct from the ethics of Brahmanism with its ideals of the great sacrificers and generous supporter of the priests, and of strict adherence to the caste system.

The authors of this Śramaṇa literature have contributed enormously to the religious, ethical, poetical, and scientific literature of ancient India. A close examination of the vast religious literature of the Jainas has been made by M. Winternitz in his 'History of Indian Literature'. In this masterly survey of ancient Indian literature, M. Winternitz has asserted that the Jainas were foremost in composing various kinds of narrative literature like *Purāṇas*, *Caritras*, *Kathās*, *Prabandhas*, etc. Besides a very extensive body of poetical narratives, the non-canonical literature of the Jainas consists of an immense number of commentaries and independent works on dogma, ethics and monastic discipline. They also composed legends of saints and works on ecclesiastical history. As fond of story-telling, the Jainas were good story-tellers and have

* Asst. Director, Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Varanasi

preserved for us numerous Indian tales that otherwise would have been lost. *Kāvya*s and *Mahākāvya*s too, of renowned merit have been composed by Jaina poet *ācārya*s. Lyrical and didactic poetry are also well represented in the literature of the Jainas.

Apart from these, the most valuable contributions have been made by the Jainas to the Indian scientific and technical literature on various subjects like logic, philosophy, poetics, grammar, lexicography, astronomy, astrology, geography, mathematics and medicine. The Jainas have paid special attention to the *arthaśāstra* (or Economics) which is considered to be “a worldly science” par excellence. Thus there is hardly any branch of science that has not been ably treated by the Jainas.

The literature of the Jainas is also very important from the point of view of the history of Indian languages for the Jainas always took care that their writings were accessible even to the masses of the people. Hence the canonical writings and the earliest commentaries are written in Prakrit dialects and at a later period Sanskrit and various modern Indian languages were used by the Jainas. That is why it is not an exaggeration when the famous Indologist H.H. Wilson says that every province of Hindustan can produce Jaina compositions either in Sanskrit or in its vernacular idioms. It is an established fact that the Jainas have enriched various regional languages and especially Hindi, Gujarati, Kannada, Tamil and Telugu.

Regarding the Jaina contribution to Kannada literature, the great Kannada scholar R. Narasimhacharya has given his considered opinion in the terms that: “The earliest cultivators of the Kannada language were Jainas. The oldest works of any extent and value that have come down to

us are all from the pen of the Jainas. The period of the Jaina's' predominance in the literary field may justly be called the ‘Augustan Age of Kannada Literature’. Jaina authors in Kannada are more numerous than in Tamil. To name only a few, we have Pampa, Ponna, Ranna, Gunavarman, Nagachandra, Nayasena, Nagavarman, Aggala, Nemichandra, Janna, Andayya, Bandhuvarma and Medhura, whose works are admired as excellent specimens of poetical composition. It is only in Kannada that we have a *Rāmāyaṇa* and a *Bhārata* based on the Jaina tradition in addition to those based on Brahmanical tradition. Besides, *kāvya*s written by Jaina authors, we have numerous works by them dealing with subjects such as grammar, rhetoric, prosody, mathematics, astrology, medicine, veterinary science, cookery and so forth. In all the number of Jaina authors in Kannada is nearly two hundred”.

As the Jainas have produced their vast literature in these languages from very ancient times, they have certainly played a very important part in the development of the different languages of India. The medium of sacred writings and preachings of the Brahmins has all along been Sanskrit and that of the Buddha's Pāli. But the Jainas alone utilized the prevailing languages of the different places, besides Sanskrit, Prakrit and Apabhramśa, for their religious propagation as well as for the preservation of knowledge. It is thus quite evident that the Jainas occupy an important position in the history of the literature and civilization of India.

Arts and Architecture

Along with literature the Jainas have always contributed considerably to the development of the arts in the country. In Jaina

canonical literatures 64 arts of women and 72 arts of men are mentioned. We have a general reference to these arts in *Sūtrakṛtāṅga*, *Jñātādharma-kathā*, *Samavāyāṅga*, and *Jambūdvīpa-prajñapti*.² The Jains have enhanced the glory of India in several branches of arts. Compared with their number their contributions appear to be very imposing and distinctive.

Architecture

It must be remembered that Jainism did not create a special architecture of its own, for wherever the Jainas went they adopted the local building traditions. For example, while in Northern India the Jainas followed the Vaiṣṇava cult in building in southern India they adhered to the Dravidian type. The *stūpas* of the Jainas are indistinguishable in form from those of the Buddhists, and a Jaina curvilinear steeple is identical in outline with that of a Brahmanical temple.

Even though the Jainas have not evolved a distinct style of architecture, yet it must be said to their credit that they have produced numerous and finest specimens of architecture in different parts of the country. In this regard it is quite clear that more than any other religion in India the Jainas have displayed their intense love of the picturesque while selecting the sites for the construction of their sacred buildings like temples, temple cities, cave temples, *stūpas*, pillars and towers. They have erected their temples either on lonely hill-tops or in deep and secluded valleys.

Temples

As the Jaina religion considers construction of temples as a meritorious act, the Jainas have constructed an unusually larger number of temples throughout India. Nearly ninety percent of Jaina temples are the gifts of single wealthy individuals

and as such the Jaina temples are distinguished for elaborate details and exquisite finish.

Of these innumerable Jaina temples, the two marble temples at Mount Abu in Rajasthan are considered as the most notable contributions of the Jainas in the domain of architecture. The two temples are famous as unsurpassed models of Western or Gujarati style of architecture which is characterized by a free use of columns carved with all imaginable richness, strut brackets, and exquisite marble ceilings with cusped pendants. The temples are known for the beauty and delicacy of the carving and for the richness of the design. As Cousens remarks:

“The amount of beautiful ornamental detail spread over these temples in the minutely carved decoration of ceilings, pillars, door ways, panels and niches is simply marvelous; the crisp, thin, translucent, shell-like treatment of the marble surpasses anything seen elsewhere and some of the designs are veritable dreams of beauty. The work is so delicate that an ordinary chiseling would have been disastrous. It is said that much of it was produced by scrapping the marble away, and that the masons were paid by the amount of marble dust so removed.”

Again, the Jaina temple at Ranakpur in Mewar, a part of Rajasthan (which was built in 1440 A.D.), is the most complex and extensive Jaina temple in India and the most complete for the ritual of the sect. The temple covers altogether about 48,000 sq. feet of ground and on the merits of its design, the notable art-historian Dr. Fergusson remarks that:

“The immense number of parts in the building, and their general smallness, prevents its laying claim to anything like architectural

grandeur: but their variety, their beauty of detail - no two pillars in the whole building being exactly alike - the grace with which they are arranged, the tasteful admixture of domes of different heights with flat ceilings, and mode in which the light is introduced combine to produce an excellent effect. Indeed I know of no other building in India, of the same class that leaves so pleasing an impression, or affords so many hints for the graceful arrangements of columns in an interior”.

The other temples of such superb character are (i) the temple of Pārśvanātha at Khajuraho in Bundelkhand in Madhya Pradesh, (ii) the temple at Lakkundi in North Karnataka, (iii) the temple known as Jinanathapura Basadi near Sravana-belagola in South Karnataka, (iv) Seth Hathisinghi’s temple at Ahmedabad. and (v) The temple known as Hose Vasadi at Mudabidri in South Kanara District of Karnataka.

As regards the spread of beautiful Jaina temples in India it may be noted that the number of such temples in India was considerably reduced during the Muslim period because the structure of Jaina temple was such that it could easily be converted into a mosque. The muslim invasion made a great harm to the Indian Art. The light columnar style of the Jaina temples not only supplied materials more easily adopted to the purposes of Muslims, but furnished hints of which the Muslim architects were not slow to avail themselves. A mosque obtained in this way was, for convenience and beauty, unsurpassed by anything the Muslims afterwards erected from their own original designs. Thus the great mosques of Ajmer, Delhi, Kanauj and Ahmedabad are merely reconstruction on the temples of Hindus and Jainas.

Temple-cities

Further, the grouping together of their temples into what may be called ‘Cities of Temples’ is a peculiarity which the Jainas have practiced to a greater extent than the followers of any other religion in India. Such notable temple cities are found, among other places, at (i) Śatruñjaya³ or Palitana in Gujarat, (ii) Girnar⁴ in Gujarat. (iii) Sammed-Śikhara in Bihar (iv) Sonagiri in Bundelkhand of Madhya Pradesh, (v) Muktagiri in Vidarbha, Maharashtra, (vi) Kunthalgiri in Marathwada, Maharashtra, (vii) Sravana-belagola in Hassan District, Karnataka and (viii) Mudabidri in South Kanara District, Karnataka.

Cave-temples

Again, the Jainas also like the Buddhists, built several cave-temples cut in rocks from the early times. But in dimensions, the Jaina cave temples were smaller than the Buddhist ones because the Jaina religion gave prominence to individualistic and not to congregational ritual. The most numerous cave-temples are in Udayagiri and Khandagiri Hills in Orissa. The picturesqueness of their forms, the character of their sculptures, and the architectural details combined with their great antiquity render them one of the most important groups of caves in India. These and those of Junagadh in Gujarat belong to the second century B.C. while the others are of a later date of which the important ones are found at (i) Aihole and Badami in Bijapur District (Karnataka), (ii) Ankai and Patana in Khandesh District (Maharashtra), (iii) Ellora and Osmanabad in Marathwada (Maharashtra), (iv) Chamar Lena near Nasik City (Maharashtra), and (v) Kalugumalai in Tinnevely District (Tamilnadu).

Stūpas

Like the Buddhists, Jainas also erected *stūpas*⁵ in honor of their saints, with their accessories of stone railings, decorated gateways, stone umbrellas, elaborate carved pillars and abundant statues. Early examples of these have been discovered in the Kankali mound near Mathura in Uttar Pradesh, and they are supposed to belong to the first century B.C.

Māna-stambhas or Pillars

Another remarkable contribution of the Jainas in the field of architecture is the creation of many *stambhas* or pillars of pleasing design and singular grace which are found attached to many of their temples.⁶ In connection with these *mānastambhas*, as they are popularly called, the famous authority on Jaina architecture, Dr. James Fergusson, states that it may be owing to the iconoclastic propensities of the Muslims that these pillars are not found so frequently where they have held sway, as in the remoter parts of India; but, whether for this cause or not, they seem to be more frequent in south India than in any other part of India. Dr. James Fergusson further suggests that there may be some connection between these Jaina *stambhas* and the obelisks of the Egyptians. Regarding these Jaina pillars in the South Kanara District of Karnataka, the research scholar Mr. Walhouse has remarked that "the whole capital and canopy are a wonder of light, elegant, highly decorated stone work, and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillars whose proportions and adaptation to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration, never offends." According to another eminent authority on Indian Architecture, Dr. Vincent Smith, in the whole

range of Indian Art there is nothing perhaps equal to these pillars in the Kanara District for good taste.

Towers

There is evidence to show that apart from pillars the Jainas, especially from northern India, constructed a great number of beautiful towers dedicated to their Tīrthāṅkaras. There is such a tower which is still adorning Chittor in Mewar (Rajasthan) and it is considered as one of the best preserved monuments in India. This Jaina Tower at Chittor is a singularly elegant specimen of its class, about 75 feet in height and adorned with sculpture and moldings from the base to the summit. The Tower was constructed in the 12th century and was dedicated to Ādinātha, the first of the Jaina Tīrthāṅkaras, and nude figures of them are repeated some hundreds of times on the face of the Tower.

Sculpture

The innumerable specimens of Jaina sculpture found in practically all parts of India show that the Jainas enlisted the services of sculptors from very ancient times. Their most common form of sculpture up to this day is modeling of images or statues of their Tīrthāṅkaras. But in giving shape to these figures no scope at all was given for the free play of imagination of individual sculptors as regular rules regarding the form and pose of statues of Tīrthāṅkara had been prescribed by the Jaina religion from the very beginning. Consequently, practically all Jaina images pertain to one class and therefore Jaina images from any part of the country cannot be distinguished from their style even though they belong to different ages altogether.

Further, it is significant to note that the Jaina images have been made of all sizes and substances and are almost always invariable in attitude, whether seated or standing. Small images are made of crystal, alabaster, soapstone, bloodstone, and various other precious and semiprecious materials, while the larger ones are carved from whatever kind of stone happens to be locally available.

Undoubtedly the most remarkable of the Jaina statues are the celebrated colossi of southern India, the largest free-standing statues in Asia which are three in number, situated in Karnataka State respectively at Sravana-Belgola in Hassan District (constructed in 981 A.D. and 56.5 feet in height), at Karkala in South Kannada District (constructed in 1432 A.D. and about 41 feet in height) and at Yenura or Venura in South Kanara District (Constructed in 1604 A.D. and 35 feet in height). All these three images of Lord Bāhubali, the son of first Tīrthānkara Ādinātha, being set of the top of eminence, are visible for miles around, and inspire of their formalism they command respectful attention by their enormous mass and expression of dignified serenity. That is why these three images are considered by authorities like Dr. James Fergusson and Dr. Vincent Smith as the most remarkable works of native art in south India.

Decorative Sculpture

Regarding the unrivaled progress of the Jainas in decorative sculpture, as distinguished from individual statuary, Dr. Vincent Smith remarks that "The Jainas encouraged the work of a high order of excellence and beauty, employed to adorn with the utmost possible magnificence and pillared chambers which were their favorite

form of architecture. Nothing in the world can surpass for richness and delicacy of detail the marble columns and ceilings of the Mount Abu temples and it would be easy to fill to large volume with illustrations of more or less similar exquisite work in many localities."

Painting

Along with architecture and sculpture, the Jainas have contributed in a large measure to the development of art of painting in India. The tradition of Jaina painting is as old as Buddhist painting and innumerable Jaina paintings of exquisite quality could be found on walls, palm-leaves, paper, cloth, wood, etc. In one of the extensive rock-cut caves at Udaigiri and Khandagiri in Orissa, assignable to 1st cent. BC, traces of paintings have been marked.⁷ It is significant to note that the Jainas possess a very extensive treasure of manuscript paintings drawn in the early Western Indian Style, sometimes called the 'Gujarat Style' or specifically the 'Jaina Style'.

Philosophy

As Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others, the Jainas have developed a separate philosophy which is regarded as a valuable contribution to Indian philosophy.

In philosophy the Jainas occupy a distinct position between the Brahmanic and Buddhist philosophical systems. This has been shown very clearly by Dr. Hermann Jacobi in his paper on 'The Metaphysics and Ethics of the Jainas'. Regarding the problem of 'Being' the three different opinions. The Vadantins consider that underlying and up-holding from within all things there is one absolute permanent 'Being' without change and with none other like it. On the contrary

the Buddhists hold that all things are transitory. The Jainas, however, contend that 'Being' is joined to production, continuation and destruction⁸ and that they call their theory of multiple view points (i.e. *Anekāntavāda*). in contradistinction to the theory of permanency (i.e. *Nityavāda*) of the Vedantins, and to the theory of Transitoriness (i.e. *Kṣaṇikavāda*) of the Buddhists.

The Jainas hold that the existing things are permanent only as regards their substance, but their accidents or qualities originate and perish. To emphasize once again here the significance of this Jaina theory of 'Being' comes out more clearly when it is regarded in relation to the doctrines of *Syādvāda* and of *Nayavāda*. According to the doctrine of *Syādvāda* any proposition about an existing thing must, somehow, reflect the many-sidedness of 'Being.' i.e.. any metaphysical proposition is right from one point of view, and, the contrary proposition is also right from another point of view. The *Nayas* are ways of expressing the nature of things; all these ways of judgment are, according to the Jainas, one-sided, and they contain only a part of truth. The doctrine of the *Nayas* is thus, the logical complement to the *Syādvāda* which is the outcome of the theory of the many-sidedness of 'Being.' Dr. H. Jacobi affirms that the Jaina theory of 'Being' is an indication of the commonsense view.

Ethical Code

As the Jainas have evolved a philosophy of their own, they follow a distinct ethical code based on their philosophy. The Jaina ethics stands as a class by itself in the sense that it is the only system which is founded on the main principle of *ahimsā*. Their *ahimsā* is based on the principle that all men like pleasure and happiness and no

one likes pain or sufferings, "*savve pāṇā piyāyua suhasāyā dukkhapaḍikūlā*"⁹ The principle of *ahimsā* forms the basis of various rules of conduct prescribed for both the Jaina laymen and ascetics.

Thus one of the significant contributions of the Jainas is the *ahimsā* culture. If the Jainas are known for anything it is for the evolution of *ahimsā* culture and it must be said to the credit of the Jainas that they practiced and propagated that culture from ancient times. In fact the antiquity and continuity of *ahimsā* culture is mainly due to the incessant efforts of the Jaina ascetics and householders. Naturally wherever the Jainas were in great numbers they tried to spread *ahimsā* culture among the masses. That is why we find that the States of Gujarat and Karnataka, which are the strongholds of Jainas from the beginning, are mainly vegetarian.

In fact it is admitted that as a result of the activities of the Jainas for the last so many centuries, *ahimsā* still forms the substratum of Indian character as a whole.

Political Progress

The Jainas also distinguished themselves in giving their unstinted support for the improvement of political and economic life in the country. The Jainas, especially in southern and western India, produced a large number of eminent and efficient monarchs, ministers, and generals and thereby contributed to maintain and improve the political importance of the people. Not only the ordinary Jainas but their *ācāryas*, i.e., saints, also aided materially to create the proper political environment based on *ahimsā* culture necessary to lead a peaceful life in the country.

It is considered that due to the keen interest taken by the Jaina *Ācāryas*, i.e., saints, in political

affairs of the country, Jainism occupies an important place in the history of India. The Jaina ascetics were never indifferent towards the secular affairs in general. We know from the account of Megasthenes that, in the 4th century B.C., the Jaina ascetics who lived in the woods were frequently consulted by the kings through their messengers, regarding the cause of things. So far as Karnataka is concerned, Jainism, throughout its course of more than one thousand years, was an example of a religion which showed that religious tenets were practiced without sacrificing the political exigencies when the question of rejuvenating life in the country was at stake. That is why in Karnataka we find that the Jaina *ācāryas* ceased to be merely exponents of dogmas and turned themselves into creators of kingdoms. It has already been noted that the Jaina saints were virtually responsible for the founding of the Gaṅga kingdom in the 2nd century A.D. and the Hoyasala kingdom in the 11th century A.D.

Significance of Jainism

From the social history of India it is evident that Tirthāṅkara Mahāvīra, in order to solve the pressing problems of the time, made several important salient contributions from a social point of view. It has been recorded that Tirthāṅkara Mahāvīra, after the attainment of omniscience at the age of forty-two, toured different parts of India for a continuous period of thirty years, met people from various urban, rural and tribal societies, and preached the principles and rules of conduct as laid down by Jainism. The personality and preachings of Tirthāṅkara Mahāvīra created a tremendous impact on the minds of all sections of people and especially on the down-trodden sections of the population. He not only revealed

to them the path of liberation, i.e., the path to attain the eternal happiness, which was the main object of the people, but also showed the actual means through which all people, irrespective of any distinction of class or status, can achieve this objective. His sincerity of purpose, way of approach, method of explanation, divine speech and distinctive philosophical and ethical doctrines appealed to the people to such an extent that with a firm conviction of mind and great determination people began to adopt Jaina religion as lay followers or as ascetics.

In this way Tirthāṅkara Mahāvīra ushered in a new era of hope and aspirations for the common people and succeeded in considerably other arrangements for the perpetuation of his social order. Obviously new concepts and ideas revolutionized the entire course of life of the people. The significance of Tirthāṅkara Mahāvīra lies in successfully effecting a social change and in making institutional and other arrangements for the perpetuation of his social order. Obviously, the Jaina *ācāryas*, thinkers and preceptors continued to advocate this new social policy. Thus the Jainas made remarkable contributions in the social field, and the significance of Jainism, from a social point of view, lies in these contributions which are briefly outlined here.

Establishment of Social Equality

The most significant contribution of Jainism in the social field was the establishment of social equality among the four *varṇas*, i.e., classes, prevalent in the society. Tirthāṅkara Mahāvīra succeeded in organizing his large number of followers into a compact social order quite distinct from that of the Brāhmanic social order of his time.

The Vedic society was composed of four classes, viz., Brahman, Rajanya (i.e. Kṣatriya), Vaiśya and Śūdra. They were said to have come from the mouth, the arms, the thighs, and the feet of the Creator, Brahmā. The particular limbs ascribed as the origins of these divisions and the order in which they were mentioned indicated their status in the society of the time. The fact that the four classes were described as of divine origin could be taken as sufficient indication that they were of long duration and also very well defined. Not only the four classes were distinct and separate, but they were also later on affected by the spirit of rivalry among themselves. Even in the early Ṛgvedic times the Brahmanical profession had begun to set up claims of superiority or grandness for itself and accordingly we find that different rules were prescribed for different classes. Obviously the prerogatives of the sacerdotal class created cleavages in the society. The Kṣatriyas were assigned a position next to Brāhmaṇas and Vaiśyas and Śūdras were comparatively neglected. Thus the society at that time was completely class-ridden in the sense that unusual importance was given to the Brahmin class to the detriment of other classes and that nobody was allowed to change his class which he had got on the basis of his birth in that class.

Against these glaring practices based on the acceptance of social inequality and on the wide observance of social discrimination, Tirthāṅkara Mahāvīra and later on Jaina ācāryas forgot their opposition. Tirthāṅkara Mahāvīra recognized the division of society into four classes but based them on the nature of activities carried out by the people and not on the basis of their birth. He gave full freedom to one and all, including women and

the Śūdras, to observe common religious practices prescribed for all and admitted them into his religious order. In this way Tirthāṅkara Mahāvīra threw open the doors of Jainism to all and gave an equal opportunity to everybody, irrespective of his class or birth, to practice religion according to his capacity. Those who followed religion as householders (male and female) were known as *śrāvakas* and *śrāvikas* and those who observed the religion fully by leaving their houses and becoming ascetics (male and female) were called as *sādhus* and *sādhvīs*.

In this way the society as envisaged by Tirthāṅkara Mahāvīra and other Jaina ācāryas, was a society where classes were not hereditary like water-tight compartments and where complete freedom was granted to the people to change to the class of their own aptitude. All classes were considered as different ways of life and utmost importance was attached to individual character and mode of behavior. There was no room for anybody to feel that he was neglected or degraded as he was free enough to follow any profession he liked and he could observe all religious rites and practices with others.

Thus Tirthāṅkara Mahāvīra's conception of *Varṇa* system produced social impact of great significance. The principle of social equality among the classes was finally established and the social mobility among the classes was considerably increased as the criterion of birth for the membership of a class was straightway removed. This had a very wholesome effect on the conditions of the Śūdras which were very deplorable in the sense that the Śūdras were deprived of education, denied all rights, subjected to inhuman treatment, and assigned the lowest

position in society. Formerly the Śūdras were completely disregarded in religious matters and several binding restrictions were placed on their movements and ways of living. Obviously, Tīrthāṅkara Mahāvīra's teachings proved a great solace to the Śūdras. This resulted in the rise of social status of the down-trodden people, and similarly there was a distinct change in the social attitude towards the non-Aryans and the common masses. Slowly there arose a strong opposition to the continuation of the practice of slavery in any form.

Independence from priestly domination

Along with the establishment of social equality the teachings of Tīrthāṅkara Mahāvīra and the Jaina ācāryas affected to a very great extent the privileged position enjoyed by the Brāhmaṇas belonging to the priestly profession. From the Vedic times such Brāhmaṇa priests enjoyed high social status, political facilities, economic concessions, educational opportunities, and religious privileges to the exclusion of other classes. In view of this monopolistic condition the Brāhmaṇa priests used to hold the positions of prominence in society, and freely made use of that position for the exploitation of the masses in different fields and especially in religious matters which were of highest importance to the people.

In these circumstances Tīrthāṅkara Mahāvīra launched an open and forceful attack on the priestly class and on their ingenious practices used for the excessive exploitation of the common masses. At the same time Tīrthāṅkara Mahāvīra made his religion easily accessible to the common masses, gave equal opportunities in the practice of religion to one and all irrespective of their class affiliations and held out a sure

promise to achieve salvation, the highest goal of their life, by observing the rules of conduct laid down by the religion and not by merely getting the different kinds of sacrifices performed by the priests. This practical and ethical approach to religion vigorously and effectively enunciated by Tīrthāṅkara Mahāvīra made people independent of the priestly domination, created a feeling of self-reliance and appealed to the common masses. Thus Tīrthāṅkara Mahāvīra's opposition was to the priestly class of Brāhmaṇas and to the several tactics employed by them, for the exploitation of the common masses, by managing to keep the masses virtually ignorant and entirely dependent on the favors of the priests. This strong opposition considerably reduced the influence and domination wielded by the priestly class over the other people.

But it is significant that the opposition of Tīrthāṅkara Mahāvīra was confined to the priestly class of the Brāhmaṇas and not to the Brāhmaṇas *varṇa* as such. In fact, Tīrthāṅkara Mahāvīra always appreciated the intellectual capacities of the Brāhmaṇas, initiated many learned Brāhmaṇas to Jaina religion, admitted several scholars from among the Brāhmaṇas to his ascetic order and even appointed Indrabhūti Gautama, the most learned Brāhmaṇa teacher, as his first *Gaṇadhara*, i.e., the apostle or the chief disciple. In this connection it may be mentioned that Tīrthāṅkara Mahāvīra delivered his first *upadeśa*, i.e., sermon, after 66 days of attainment of omniscience, and that too only when he got the collaboration of the most talented Brāhmaṇa teacher, viz., Indrabhūti Gautama, for the proper interpretation of his preachings to the people. In this way Tīrthāṅkara Mahāvīra always showed regard to the learning and education of the Brāhmaṇas, but invariably

led a strong and consistent attack against the priestly domination of the Brāhmaṇas.

Religious Emancipation of Women

Another contribution of a distinctive nature made by Tīrthaṅkara Mahāvīra and Jaina ācāryas in the social field was in the direction of raising the status of women. In the latter part of the Vedic period women had practically been reduced to the status of Śūdras. Like the Śūdras, women were debarred from the right of initiation and investment with the sacred thread. They were considered to have no business with the sacred religious texts. In many passages we find that women was considered as inauspicious and people were asked to avoid seeing women, Sudras, dead bodies, etc. Thus women had practically no place in the religious life of the society and as such they were neglected and degraded by the people.

Since the days of Rṣabha the low position of women was definitely changed by Tīrthaṅkara Mahāvīra in many ways. He removed various restrictions imposed on women especially in the practice of religion. In fact Tīrthaṅkara Mahāvīra did not make any distinction between the males and the females in the observance of religion. The rules of conduct prescribed for the males and females were exactly the same. Both the sexes were given equal opportunities in different matters of religion like the study of sacred texts, observance of necessary duties, practice of *vratas*, i.e. vows, entrance into the ascetic order, practice of penance, making spiritual progress, etc. In the religious order of Tīrthaṅkara Mahāvīra the male householders were called *śrāvakas* and the female householders were termed *śrāvikās*, and both were quite free to observe their common religious duties and to prepare themselves for adopting ascetic life

in due course. Similarly, complete freedom was given to women, like men, to enter the ascetic order. The female sex was not barred to the practice of asceticism. Tīrthaṅkara Mahāvīra always showed this attitude of equality towards women and admitted them freely into his ascetic order, no matter whether the candidates for admission were royal consorts, members of the aristocracy, and those belonging to the common run of society. Naturally many ladies availed themselves of this opportunity of achieving their salvation in due course by entering into the ascetic order. That is why in Tīrthaṅkara Mahāvīra's religious organization there were two orders of ascetics, like those of householders, namely, *sādhus*, i.e. male ascetics and *sādhvīs*, i.e. female ascetics. It is stated that in Tīrthaṅkara Mahāvīra's fourfold religious order there were about 14000 *sādhus*, 36000 *sādhvīs*, 1,00,000 *śrāvakas* and 3,00,000 *śrāvikās*. This shows that the female members outnumbered the male members in both the categories of householders and ascetics. It is a clear indication that the females were very eager to take full advantage of the opportunity offered to them by Tīrthaṅkara Mahāvīra. In fact, many females from royal families and close relatives of Tīrthaṅkara Mahāvīra joined his ascetic order along with the other ordinary members. For example, Candanā and Jyeṣṭhā, the two younger sisters of queen Triśalādevī, the mother of Mahāvīra, and Yaśasvatī, the wife of their maternal uncle entered the ascetic order of Tīrthaṅkara Mahāvīra; and eventually Candanā assumed the position of the head of the *sādhvīs*, i.e. the female ascetics. In this way Tīrthaṅkara Mahāvīra effected emancipation of women by giving them similar opportunities like men to achieve their highest objective in life,

viz. liberation. Females made best of these opportunities and many of them distinguished themselves as teachers and preachers.

Impetus to Female Education

Further the religious independence given to women had its repercussions in other fields also. Equality of opportunity was accorded to women in several social spheres of action. In education they were given equal treatment with the males. The utmost importance of imparting education to females, along with males, was realized even in the ancient past by Rṣabhadeva, the first Tīrthaṅkara, who had advised his two young daughters, Brāhmī and Sundarī that “only when you would adorn yourself with education your life would be fruitful because just as a learned man is held in high esteem by educated persons, a learned lady also occupies the highest position in the female world.” According to Jaina tradition women are expected to know 64 arts which include dancing, painting, music, aesthetics, medicine, domestic science etc. As a result of this high type of education received by women, we find, in Jaina tradition, that many women used to enter the teaching profession and to remain unmarried throughout their life, in order to carry on their spiritual experiments unhampered. It is recorded in Jaina tradition that Jayantī, a daughter of king Sahasrānika of Kauśāmbī, remained unmarried out of her love for religion and philosophy. When Mahāvīra first visited Kauśāmbī, she discussed with him several abstruse metaphysical questions and eventually became a nun. Similarly, in later periods of history also Jaina women not only kept up the pace of female education but at times made original contributions to literature. For example, along with men Jaina women also added to

Kannada literature. The greatest name among them was Kanti, who along with the great poet Abhinava Pampā, was one of the gems that adorned the court of Hoyasala king Balla I (A.D. 1100-1106) in Karnatak. She was a redoubtable orator and poet who completed the unfinished poems of Abhinava Pampā in the open court of that ruler. Similarly, Jaina lady Avvaiyara ‘the Venerable Matron’, was one of the most admired amongst the poets in Tamil language.

Inculcation of Self-Reliance

The contribution of Tīrthaṅkara Mahāvīra and Jaina ācāryas of a revolutionary nature consisted in completely changing the attitude of the people towards God and thereby inculcating the spirit of self-reliance among the minds of the people. The common belief, held by the people according to the prevalent ideology, was that this world has been created by God and the work of controlling the events in this world is also carried out by God. This popular belief engendered a feeling of divine dispensation in the minds of the people because it was firmly held by the people that God can do and undo anything in this world in accordance with his wishes. Naturally, this feeling created a sense of complete dependence on God by the people in the conduct of their daily activities and in securing happiness in this world as well as in the next world. Obviously this sense of dependence on God urged people to find out ways and means so as to obtain in abundant measure the favors of God in mundane and spiritual matters and also to avoid the displeasure or wrath of God which, it was thought, would not only bring several difficulties in the normal course of life but also would lead to complete disaster. As a result of this attitude, people began to place

entirely blind faith on the omnipotent God and to secure his favors by practicing certain rites and rituals laid down for the purposes. These prescribed rituals are so elaborate that they did require the services of priests who were supposed to have the special knowledge about these rites and who were also specifically authorized to perform these rituals in a proper manner. In this way the entire code of conduct of the people was fully dominated by the practice of various rituals throughout the course of life and by the priests whose help and assistance were considered most essential to work as intermediary between people and God for securing desired favors from God.

Tīrthaṅkara Mahāvīra and Jaina ācāryas launched an intensive attack on this attitude of complete submission to God by the people for attaining their final objective in life viz. liberation. In this regard Tīrthaṅkara Mahāvīra firmly asserted that this world is eternal and has not been created by any power like God and that the happenings in this world are not controlled by God. He clearly proclaimed that nothing here or elsewhere depends on the favors of God but everything depends on the actions of the people. He confidently stated that all persons, irrespective of their ultimate objective in life, by relying on themselves and through the observance of an ethical code of conduct and not by merely performing some rituals with the help of others. For this purpose he laid down a path to liberation which consisted of right faith, right knowledge and right conduct and appealed to the people to follow this path on their individual initiative and efforts and not with the help of any intermediary.

Further, he impressed on the people the theory of *karma* which is based on the principle

of self-reliance. This doctrine explains the reasons lying behind or causes leading to effects. It maintains that every happening in this world is the result of some antecedent causes. Since the individual soul is the doer of actions, it must bear the consequences of these actions sooner or later. There is no way out of it. The responsibility of consequent cannot be shifted nor exemption from the consequences be given by anybody. The soul has to enjoy the fruits of the *karmas* in this life or in subsequent lives. There is no salvation until the soul stops the influx of *karmas* and gets rid of existing *karmas* and this it will have to do by its own deliberate efforts without expecting any help from an outside agency like God. There is no use in asking the favor of God or his representative because they do not have the power of determining the consequence of the *karmas* and have no authority to forgive people from future consequences of past actions.

This theory of *karmas* has been an original and integral part of the Jaina ideology, and Tīrthaṅkara Mahāvīra convinced the people of the necessity of adopting this doctrine and of molding their entire life on the foundation of this theory. Naturally, Tīrthaṅkara Mahāvīra laid full stress on individual action and completely denied the existence of divine dispensation. He emphasized that man is the architect of his destiny and that there is no external power which can come in the way of getting the fruits of one's actions, whether good or bad. He assured the people that the attainment of liberation, the ultimate object in life, is within their reach and it depends entirely on one's own efforts in the march on the path liberation. In this way Tīrthaṅkara Mahāvīra wanted every individual to become a true hero on

the battlefield of self-conquest. Thus Tīrthāṅkara Mahāvīra inculcated a spirit of reliance among the people in place of the feelings of utter dependence on God. This basic change in attitude brought an over-all change in the course of life of the people who began to lay stress more on the ethical aspects than on the ritualistic aspects of their conduct.

Emphasis on Non-Violence

The most distinctive contribution of Tīrthāṅkara Mahāvīra and Jaina ācāryas consists in their great emphasis on the observance of *ahimsā*, i.e. non-injury to living beings, by all persons to the maximum extent possible. *Ahimsā* in its full significance was realized and preached by twenty-three Tīrthāṅkaras preceding Tīrthāṅkara Mahāvīra. In fact, the philosophy and rules of conduct laid down in Jaina religion have been based on the solid foundation of *ahimsā* which has throughout and consistently, been followed to its logical conclusion. That is why Jainism has become synonymous with *ahimsā* and Jaina religion is considered as the religion of *ahimsā*. The significance of this basic principle of *ahimsā* was very powerfully reiterated by Tīrthāṅkara Mahāvīra as the practices of committing violence on different pretexts had become rampant at that time.

During the later Vedic period utmost importance was attached to the performance of sacrifices with a view to secure the favors of God and to avert His anger. The sacrifices were very elaborate, complicated and hedged with various restrictions. The sacrifices became a regular feature of the religious life of the people. The peculiar characteristic of these sacrifices was that they were usually accompanied by the slaughter

of animals. As the sacrifices were mainly animal sacrifices they involved the practice of *himsā* to a considerable extent. Along with this practice, the flesh-eating or non-vegetarian diet was extremely popular among the different sections of the people. The people in those days were fond of meat-eating and practically all the important ceremonies were attended with the slaughter of animals. Offerings of flesh were frequently made to the Gods by worshippers.

Tīrthāṅkara Mahāvīra and Jaina ācāryas launched a vigorous attack against meat-eating and the performance of sacrificial rites by propagating the principle of *ahimsā*, i.e. non-injury to living beings. In fact in all his preachings Tīrthāṅkara Mahāvīra invariably laid great stress on the observance of *ahimsā* because the principle of *ahimsā* is the logical outcome of the basic Jaina metaphysical theory that all the souls are potentially equal. He therefore, asserted that as no one likes pain, one should not do unto others what one does not want others to do unto oneself. Since all living beings possessed a soul, the principle of non-injury was obviously extended to cover all living beings. He explained the doctrine of *ahimsā* systematically and to the minutest detail. He considered injury or violence of three kinds: (i) physical violence, which covered killing, wounding and causing any physical pain, (ii) violence in words consisted in using harsh words, and (iii) mental violence, which implied bearing ill-feeling towards others. Further, he made it clear that violence or injury should be avoided in three ways, that is, it should not be committed, commissioned or consented to. Moreover, among the five main *vratas*, i.e. vows, the first place was given to the observance of *ahimsā*. In addition, *ahimsā* was regarded as the principal

vow, and the other four vows were considered to be merely details of the principal vow.

All these preachings of Jaina religion regarding the strict observance of the principle of *ahimsā* to the maximum extent possible by every individual in society produced far-reaching effects in social fields. The practice performing sacrificial rites and especially the slaughter of animals at the time of sacrifices considerably fell into disuse. Similarly killing of animals for hunting, sports and decoration purposes was greatly reduced. Further, the slaughter of animals and birds with a view to use their flesh as a form of diet slowly became unpopular. In this way injury to living beings was greatly reduced and the practice of vegetarian diet was adopted by large sections of population in different regions of the country. In this connection Dr. N.K. Dutt (in his book *Origin and Growth of Caste in India*) observes that "Animal sacrifice had been so long standing among the Aryans and such was the respect for the authority of the Vedas, which made it obligatory to sacrifice with flesh offerings, that the abolition of sacrifices, even of cows, became a very slow process effecting only a very small minority, the intellectual section of the people; and might not have succeeded at all, if Jainism and Buddhism had not overwhelmed the country and the mass of the people with the teachings of *ahimsā* and inefficacy of sacrificial rites."

Thus Tīrthānkara Mahāvīra emphasized the basic fact that every living being has sanctity and a dignity of its own and therefore one must respect it as one expects one's own dignity to be respected by others.¹⁰ He also firmly emphasized that life is sacred irrespective of species, caste, color, creed or nationality. On this basis he advocated the principle of 'Live and let live'. In

this way Tīrthānkara Mahāvīra convinced the people that the practice of *ahimsā* is both an individual and a collective virtue and showed that *ahimsā* has a positive force and a universal appeal.

Insistence on Tolerance

Advocacy of the principle of religious tolerance has been the characteristic contribution of Tīrthānkara Mahāvīra and the Jaina *ācāryas*¹¹. When Tīrthānkara Mahāvīra promulgated Jaina religion, he never deprecated other religions and never tried to prove that other religions are false¹². In fact he propounded the doctrine of *Anekāntavāda*, i.e., many-sidedness, and showed that a thing can be considered from many points of view. That is why he always advised the people to find out the truth in anything after taking into account several sides or aspects of that thing. This obviously broadens the outlook of the persons as they are made to look at a thing from different angles. At the same time the principle of *Anekāntavāda* does not engender the feelings of enmity or hatred towards the other religionists because it believes that other religions also would be having some truth from their points of view. Hence by enunciating the principle of *Anekāntavāda*, Tīrthānkara Mahāvīra and the Jaina *ācāryas* advocated the principle of tolerance and asserted that it could be applied to intellectual, social, religious and other fields of activities. As a result we find that *Anekāntavāda* has definitely a bearing on man's psychological and spiritual life and that it is not confined to solve a mere ontological problem. It has supplied the philosopher with catholicity of thought, convincing him that truth is not anybody's monopoly with tariff walls of denominational religion. It also furnished the religious aspirant with the virtue of intellectual toleration which is a part of *ahimsā*.

Human beings have limited knowledge and inadequate expression. That is why different doctrines are inadequate, at the most they are one-sided views of truth which cannot be duly enclosed in words and concepts. Jainism has always held that it is wrong, if not dangerous, to presume that one's own creed alone represents the truth. Toleration is, therefore, the characteristic of Jaina ideology as propounded by Tīrthaṅkara Mahāvīra. Even the Jaina monarchs and generals have a clean and commendable record to their credit in this regard. The political history of India knows no cases of persecution by Jaina kings, even when Jaina monks and laymen have suffered at the hands of other religionists of fanatical temper. Dr. B.A. Saletore has rightly observed in this regard that "The principle of *ahimsā* was partly responsible for the greatest contribution of the Jainas to Hindu culture that relating to toleration. Whatever may be said concerning the rigidity with which they maintained their religious tenets and the tenacity and skill with which they met and defeated their opponents in religious disputations, yet it cannot be denied that the Jainas fostered the principle of toleration more sincerely and at the same time more successfully than any other community in India".

Encouragement to Social Welfare.

Along with the maximum emphasis on the actual observance of *ahimsā*, Tīrthaṅkara Mahāvīra and the Jaina ācāryas greatly extended the implications of *ahimsā*. They invariably stressed both the negative and the positive aspects of *ahimsā*. They strongly advocated that the concept of *ahimsā* should not be confined only to the negative side of it, that is, the avoidance of injury to the living beings of different categories, but should be consistently applied in the positive

way, that is, in the direction of increasing the welfare of all living beings. They always appealed to the people to bear good intentions about the prosperity of others, to show active interest in the welfare of the needy persons, and to take practical steps to ameliorate the miserable conditions of afflicted living beings including insects, birds, animals and men. This positive encouragement to social welfare activities has been the most useful and noteworthy contribution of Jainism to Indian Culture.

This humanitarian approach to lessen the miseries of living beings was included in the *vrata*, i.e. vow, of *aparigraha*, i.e. abstention from greed of worldly possessions. The vow of *aparigraha* is the fifth of the five main vows which must be consistently followed by all persons. *Aparigraha* involves avoiding the fault of *parigraha* which consists in desiring more than what is needed by an individual. Accumulating even necessary articles in large numbers, expressing wonder at the prosperity of others, excessive greed and changing the proportions of existing possessions are all forms of *parigraha* i.e. worldly attachments. This vow aims at putting a limit on the worldly possessions by individuals according to their needs and desires. That is why this vow of *aparigraha* is many times termed as *parigraha-parimāṇa-vrata*, i.e. the vow to limit one's worldly possessions.

This vow of *parigraha-parimāṇa* is very noteworthy as it indirectly aims at economic equalization by peacefully preventing under accumulation of capital in individual hands. It recommends that a householder should fix, beforehand, the limit of his maximum belongings, and should, in no case exceed it. If he ever happens to earn more than that he must spend it away in

dāna, i.e. charities. The best forms of charities prescribed by religion are *ahāra-abhaya-bhaiṣajya-śāstra-dāna*, i.e. giving food to the hungry and the poor, saving the lives of people in danger, distribution of medicines and spreading knowledge. These charities are called the *caturvidha-dāna* i.e. the fourfold gifts by Jaina religion and it has been enjoined on the householders that they should make special efforts to give these charities to the needy irrespective of caste or creed.

From the beginning, the Jaina householders made it one of their cardinal principles to give these four gifts to all persons who are in need of such help. In fact this help was extended to the protection and well-being of insects, birds and animals also. For this the Jainas established alm-houses, rest-houses, dispensaries and educational institutions wherever they were concentrated in good numbers. The *annachatrālayas*, i.e. alm-houses, were conducted at pilgrim and other centers for the benefit of poor people. In the *dharmaśālas*, i.e. rest houses, lodging arrangements were provided without any charges or at nominal charges at important towns, cities and pilgrim places. The *auśadhālayas*, i.e. dispensaries, provided free medicines to the afflicted persons. Along with the dispensaries for men, the Jainas conducted special institutions known as *pānjarāpols* for the protection and care of helpless animals and birds. In unusual times of flood and famine these *pānjarāpols* carry out various activities for animal protection. There is hardly any town or village of Gujarat or Rajasthan, where a *pānjarāpola* is not present in some form or other. To the spread of education the Jainas took a leading part in the education of the masses.

Various relics show that formerly Jaina ascetics took a great share in teaching children in the southern countries, viz. Andhra, Tamilnadu, Karnataka and Maharashtra. In this connection Dr. A.S. Altekar rightly observes (in his book *Rastrakutas and their Times*) that before the beginning of the alphabet proper the children should be required to pay homage to the deity Gaṇeśa, by reciting the formula *Sri Gaṇeśāya namaḥ*, it is natural in Hindu society, but that in the Deccan even today it should be followed by the Jaina formula '*Om namaḥ siddham*', it shows that the Jaina leaders of medieval age had so completely controlled the mass education that the Hindus continued to teach their children this originally-Jaina formula even after the decline of Jainism. Even now the Jainas have rigorously maintained the tradition by giving freely these *Caturvidha-dānas*, i.e. four types of gifts, in all parts of India. In this manner the legacy of Mahāvīra has been continued to the present day.

Thus there is an immense value attached to this vow of *aparigraha* or *parigraha-parimāna* from social point of view. At the same time this vow has got a great significance in preparing a proper mental attitude towards material possessions, in forming a true scale of values, and in developing a right sense of proportion for individual possessions. This vow emphasizes that one should not feel too much attachment towards his own possessions and should resist all temptations. Similarly, all other vows like truth, non-violence, non-stealing and celibacy play an important role to regulate one's like ethical and cultured.

Thus, Jainism has contributed a lot to the Indian culture by his unparalleled principles and way of life.

References:

1. "There is truth in Jaina idea that their religion goes back to remote antiquity, the antiquity in question being that of the Pre-Aryan." Zimmer, H. *Philosophies of India*, p-60
2. Jain, N. L., *Scientific Contents in Prākṛta Canons*, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, 1995
3. Banerjee, R.D., *Mediaeval Indian Sculpture in British Museum*, 71, pl. XXII
4. Shah, U. P. , *Studies in Jain Art*, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, p.26
5. Ibid. p.58,
Āvaśyakavṛtti, Haribhadra, p.169
6. i. *Ādipurāṇa*, Jinasena, 22/92/102
ii. *Tiloyapaṇṇatti*, 4, 779 ff
iii. *A Guide to Taxila* pl XIII, p.88
7. Motichandra, *Jaina Miniature Paintings from Western India*, p. 10
8. *Tattvārthasūtra*, 5/29
9. *Ācārāṅgasūtra*, 1/2/3
10. *parasparopagrahojivānām*, *Tattvārthasūtra*, 5/21
11. i. *Isibhāsiyāyim*, 1/1
ii. *Bhagavatī*, 2/1
iii. *Śāstravārtāsamuccaya*, 6/464-67
iv. *Mahādevastotra*, 44
12. *Sūtrakṛitāṅga*, 1/1/2/23



Religious Exclusion : a threat to Social Equality in Jain perspective

Dr. Vijaya Kumar*

Social equality is one of the basic features of democracy, which is running in India. So we Indian people should be very conscious and careful about its stability and strength. Indian society consists mainly of two traditions- Vedic and Śramaṇa. The Vedic or Hindu social organization has propounded two theories concerning social establishment- i. Theory of Birth and ii. Theory of Karma, which may be discussed in the following way-

Theory of Birth

The Puruṣasūkta of the *R̥gveda*¹, mentions that the Vedic society consists of four classes (Varnas)- Brāhmaṇa, Kṣatriya, Vaiśya and Śūdra, which have originated from the head, arms, thighs and legs of the Parama-Puruṣa respectively. Their social duties have been prescribed as below:

1. **Brāhmaṇa**- Studying, teaching, taking and giving Charity, conducting and directing sacrifice.
2. **Kṣatriya**- To rule over country and protect it.
3. **Vaiśya**- Agriculture and Business.
4. **Śūdra**- Service to society

So far as the social status is concerned Brāhmaṇa is on its top while the Śūdra is on its bottom. Kṣatriya and Vaiśya are in between these two. According to the social rule prescribed to the Brāhmaṇa remains superior to all during his whole life though he does many things unsocial and unethical. Just opposite to it, a Śūdra remains always on the lowest stage of society

though he follows social and moral conduct. Therefore, the theory of Birth does not support to the social equality.

Theory of Karma

Lord Śrī Kṛṣṇa while instructing Arjuna in the Kurukṣetra, the battle field of Mahābhārata, says that I have created four *varṇas* or classes according to the ability (Guṇa) possessed and the deeds (karmas) done.² Thus the theory of *karma* supports the social equality.

But in the common Hindu life the theory of birth is prominent. Even at present, in the Hindu way of living a Brāhmaṇa is honoured by the persons belonging to other *varṇas* and the Śūdra is on the lowest level of society and he is neglected by others. Exceptionally some Śūdras may be seen on the high positions of society and government, but the mass is below poverty line.

The Śramaṇa tradition, neither accepts the existence of Parama-Puruṣa (God), nor the theory of birth for social organization. Both systems of the Śramaṇa tradition- Jainism and Buddhism accept the theory of *Karma* for the stability and enhancement of equality of society. *Uttarādhyayanāsūtra*, one of the well-known scriptures of the Jaina tradition strongly advocates this theory:³

- i. It is *karma*, which makes a person Brāhmaṇa.
- ii. It is *karma*, which makes a person Kṣatriya.
- iii. It is *karma*, which makes a person Vaiśya.
- iv. It is *karma*, which makes a person Śūdra.

*Lecturer, Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Varanasi

The same thing is found in Buddhism also. It has supported the theory of *karma* in the following way.⁴

- i. By birth no body becomes Śūdra
- ii. By birth no body becomes Brāhmaṇa.
- iii. By *karma* a man becomes Śūdra.
- iv. By *karma* a man becomes Brāhmaṇa.

Five Vows and Social Equality

In Indian life following five vows (Pañcavratas) are quite-known and accepted for their ethical and religious values.

- i. Ahimsā (Non-violence)
- ii. Satya (Truth)
- iii. Asteya (Non-stealing)
- iv. Brahmacharya (Celibacy)
- v. Aparigraha (Non-possessiveness)

Though these vows occupy prominent places in the field of ethics and religion, they also play important role in the social organization because ethics and religion are nothing but the sources through which a society becomes prosperous, peaceful and pleasant.

In Jainism the five vows are on the top of spiritual ranking as well as social ranking. They have been divided into two classes:

- i. The five great vows (Pañca Mahāvratas)
- ii. The five small vows (Pañca Aṇuvratas)

The Jaina society has been classified as Śramaṇa and Śrāvaka. The Jaina monk and nuns are known respectively as Śramaṇa and Śramaṇī while the gents and ladies who observe vow are addressed respectively as Śrāvaka and Śrāvikā. So the five great vows (Pañcamahāvratas) has been prescribed for Śramaṇa and five small vows (Aṇuvratas) have been prescribed for the Śrāvakas. These vows, according to Jainism should be performed by three *Karaṇas* and three *Yogas*.

Three karaṇas are-

- i. Doing something by own self
- ii. Ordering some one to do
- iii. Supporting some one if he is doing something.

Three *Yogas* are: Performing action mentally, verbally and physically. It means Śramaṇas are permitted in no way to do anything against five vows. The vows, which are performed by the Śramaṇas are known as great vows (Pañcamahāvratas) because they are practised fully by three *karma*s and three *yogas*. But the Śrāvakas may be excused if they happen to support somebody doing something against *vratas*.

Non-Violence and Social equality

There are two forms of non-violence:

- i. Negative form and
- ii. Positive form

Negative Form: The word non-violence is the combination of two words-'non' which means no i.e. negation, prohibition, opposition etc. and 'violence' which means injury, trouble, pain etc. So the non-violence means negation of injury, prohibition of any type of injury or to give pain to some one. Here injury is condemned. But this negation is not limited up to the human being only, it is far all beings. No being should be troubled in any way. In *Ācārāṅgasūtra* it is clearly mentioned:

'All animates (Prāṇī), all elements (Bhūta) all beings (Jīva) and existents (Sattā) should neither be killed, nor be ordered to be kill, nor be oppressed, nor be tortured, nor be disturbed with view to kill. This religion (Dharma) in the form of non-violence is pure.'⁵

The society which has social ranking causes violence, because the persons of lower level are tortured by that of the high level. But the vow of

non-violence prohibits a man to trouble any being in any form. It means non-violence cannot be maintained without social equalities. In the same way social equality cannot be seen without maintaining non-violence.

Positive Form: Non-violence has also positive form. Love, affection, kindness, charity and Co-operation etc. constitute the positive form of non-violence. These constituents of non-violence are always to be practised. But the person who knows the following reality found in all persons equally can provide others love, affection, kindness, charity, co-operation etc.

No being likes pain

All beings like pleasure.

So the theory of non-violence enhances both external equality as well as internal equality of an individual which are the foundations of social equality.

Truth (Satya) and Social Equality

Social equality needs confidence which cannot be created by speaking false. Where there is confidence or belief there is equality. By speaking false a man cheats others which make the social relation weak. Cheating creates distance between cheater and the cheated one. Social equality is based on the nearness between the persons living in a society. It needs fraternity which may be achieved on the basis of truth not due to untruth.

Non-stealing (Asteya) and Social Equality

Stealing means to pick-up something intentionally without permission of the owner. Stealing is a kind of misconduct which causes conflict and quarrel. There can be equality between two thieves. In the same way there can be equality between two non-thieves. But there can be no equality between a thief and non-thief. Moreover stealing is an unsocial and unethical activity. So social equality needs non-stealing.

Celibacy (Brahmacarya) and Social Equality

In Jainism to practise celibacy the householder is advised to comply with-

- i. Svādārasaṅtoṣa
- ii. Svapatisaṅtoṣa

A man should enjoy sexual life with his wife only. Similarly a woman should get herself satisfied by having physical relation with her husband only. The violation of these rules causes conflict and crime in the society. The celibacy causes peace in the personal life as well as social life. In the absence of peace there can be no equality. Therefore, to attain equality in the personal life as well as in social life celibacy is very important.

Non-possessiveness (Aparigraha) and Social Equality

Generally people want to have different things as much as they can. They do not care for others. They try to possess various things not for themselves, but for their sons and grand sons too. They do not think that whether they are doing something social or unsocial, ethical or unethical. In this way they exploit other persons, which causes necessarily social-inequality.

Therefore, one should practise the vow of non-possessiveness. This vow instructs men to possess only those things, which are necessary for maintaining a normal life. Comfort and luxury cause exploitation, which creates inequality in the society. So for having equality in the society non-possessiveness must be practiced.

Anekāntavāda and Social Equality

Anekāntavāda is the foundation on which edifice of Jainism has been erected. It is also named as *Śāpekṣatāvāda* or the theory of relativity. It is expressed verbally in the form of *Syādavāda* and practically in the form of *Ahimsāvāda*. It has propounded that reality is multidimensional. It possesses infinite characteristics⁶ which cannot

be known by an ordinary man. Only the saint who is omniscient is able to know all characteristics of a thing. An ordinary man knows simply some of them. So his knowledge is limited, finite and relative. All persons know a thing from their own viewpoints. Except omniscient nobody knows a thing absolutely. So all different knowledges are relative and correct. This theory of relativity removes the possibility of conflict in social life. People try generally to prove themselves right and others to be wrong. This causes the feeling of superiority. By proving himself correct and other person incorrect, a man shows seniority among his company. These disturb the social equality.

But *Anekāntavāda* proves all knower right from their own angles. So the problem of superiority is removed and feeling of equality is established. Thus equality accepted mentally causes the equality socially also. The theory of relativity (*Anekāntavāda*) paves a grand path to the social equality.

Religious Exclusion

The religious exclusion surpasses all theories of equality, harmony and love. Religious Exclusion may be known as the Exclusion in the religious field, because exclusion cannot be a religious thing. The so called religious exclusion has following characteristics-

- i. Exclusion among different religion is not a new thing because it has been coming since long back, for example theistic religions exclude atheistic religions and atheistic religions exclude theistic religions.
- ii. Exclusion in the religion is nothing but a superiority complex from which the teachers and the followers of religion suffer.
- iii. The superiority complex is not a thing of saintly life. Yet some religious teachers or Ācāryas are influenced by this complex coming from their earlier life.

- iv. In order to create this complex in their followers they highlight their own religions and criticize that of others. For this they attach quite different meanings to the *sūtras* or sentences both of their own religions and of others by twisting the meanings of words.
- v. Though religious exclusions are presented in the name of the development of religions, but ultimately they show their weakness.
- vi. When the religions are disturbed by exclusions they cause the division of society into different sects.
- vii. Thus the social equality is destroyed.

The Jainas exclude not only Hinduism and Buddhism but they themselves exclude one another. They exclude Hinduism by negating the existence of God who is the creator, sustainer and destroyer of this universe. They exclude Buddhism by refuting the theories of momentariness (*Kṣaṇikavāda*) and non-soul (*Nairātmavāda*)

Digambara and Śvetāmbara

Jainism has been divided in two divisions- Digambara and Śvetāmbara. The Digambara saints treat sky as their cloth. They do not use any cloth like other people. They live naked for practising penance, because Lord Mahāvīra had practised penance by living naked. It means a saint should renounce everything. So the Digambaras consider themselves as the real followers of Lord Mahāvīra and on this ground they exclude Śvetāmbara. The Śvetāmbara saints are whiteclothed so, according to Digambaras they are not the real followers of Jainism. Thus Digambaras consider themselves superior to Śvetāmbaras.

The Śvetāmbaras present reason for having white cloth. As they plead, Lord Mahāvīra used to live in the forest very far from the society. But after Mahāvīra the Jaina saint began to live in the society full of men and women. Like males,

females also go to have the sacred look (Darśana) of the saints living there and to hear their instructions. In the process of the nakedness a muni may affect the ladies going to him and that may create immoral and irreligious attitude in them. So munis should never be necked. At least they should cover their sexual organs. With this motive the munis who began to use the white cloth in order to cover their sex-organs were called Śvetāmbaras. According to Śvetāmbaras religion and society are co-related and in the name of religion nothing should be done which may harm the society in anyway. So Śvetāmbaras treat themselves superior to Digambaras and they exclude them.

Moreover *Strīmukti* (Women Liberation) and *Kevalī-bhukti* or *Kevalīkavalāhāra* (taking food of Omniscience) cause religious exclusion between Digambaras and Śvetāmbaras.

Digambaras negate women-liberation because without renouncing all things including cloth, liberation is not possible and a lady cannot live necked. So a lady cannot achieve liberation.

A *kevalī* or omniscience possesses four infinites-

- i. Infinite faith (Ananta Darśana)
- ii. Infinite knowledge (Ananta Jñāna)
- iii. Infinite Bliss (Ananta Ānanda)
- iv. Infinite Power (Ananta Vīrya)

A Kevalī having ananta-catustaya does not require food. If he takes food, that signifies sense of short-coming in him. So omniscient should not take food.

But the Śvetāmbaras refute these theories of Digambaras. They maintain that cloth does not create any hindrance in obtaining liberation. Liberation can be obtained by penance not by cloth. They also declare that taking food by *Kevalī* does not show his short-coming. He may take food if he wants.

So on the basis of *Strīmukti* and *Kevalī-bhukti* Digambara and Śvetāmbara exclude each other.

Mūrtipūjaka-Amūrtipūjaka

Mūrtipūjaka and *Amūrtipūjaka* are the sub-divisions of Jainism found in both sects-Digambara and Śvetāmbara. The *Mūrtipūjakas* worship the images of Tīrthaṅkaras, the founders of four religious organizations (Saṅghas)-Śramaṇa Saṅgha, Śramaṇī Saṅgha, Śrāvaka Saṅgha (Male Lay votaries) and Śrāvīkā Saṅgha (Female Lay votaries). Jainism has a glorious tradition of 24 Tīrthṅkaras like Ṛṣabhadeva, Ariṣṭanemi, Pārśvanātha, Mahāvīra etc. Because the *Mūrtipūjakas* worship the idol of Tīrthaṅkaras, they consider themselves as the real followers of Jainism. They declare themselves superior to *Amūrtipūjakas* and exclude them.

But *Amūrtipūjakas* say that idol-worship is the cult of Hīndu religion, which has been borrowed by the image worshipers in Jainism. It is not the real conduct of the Jainas. So as the borrowers of Hinduism, idol worshipers are inferiors to non-idol worshipers. Thus the non-idol worshipers exclude the idol-worshipers.

Sthānakavāsī-Terāpanthī

Sthānakavāsī and Terāpanthī are the branches of the non-idol-worshipers (Amūrtipūjaka) Śvetāmbaras. But they exclude each other when they think over *Anūkampādāna*? It is that type of charity which is offered to the poor and helpless person after being sympathetic towards his helplessness.

In this concern Sthānakavāsī and Terāpanthī have opposite views. Sthānakavāsī is in favour of giving charity to the poor but Terāpanthī refuses it. According to Terāpantha charity should be given to those who are '*Saiṇyat*' i.e. controlled. who have good conduct. To give charity to the man of good conduct is virtuous

while to give charity to the poor who does not have good conduct is vicious. So no poor or helpless should be helped by giving charity, if he is not restrained. Jayācārya, a representative of Terāpantha has advocated this view in the *Dānādhikaraṇa* of *Bhrahmvidhvāsanam*⁷ and Jawaharlaljee, a representative of Sthānakavāsī has refuted all that has been presented by Jayācārya in against *Anukampādāna* in *Saddharmamaṇḍanam*.⁸ For example while analyzing the adoption of religious vow by Gāthāpati by Ānanda they have supported their own views in their ways which may be seen in the following lines:

‘As Jayācārya has interpreted this statement (statement given by Gāthāpati Ānanda), Ānanda has refused to give any charity to poor and needy, because he has mentioned only Nirgranthas in his statement. But Jawaharlaljee in *Saddharmamaṇḍanam*, while refuting Jayācārya’s view says that Ānanda has refused only to give charity to those who does not follow the religion

established by the omniscient and also who is not wise. He has not denied to give charity to poor and the sufferers.’

According to Terāpantha the charity should be given only to *munis* or saints who are treated as restraint. But Sthānakavāsī is of opinion that charity should be given to all helpless, poor and weak. This has been supported also by common people.

However, this religious exclusion found not only in Jainism but in all religions, and it damages both social equality and social unity.

Thus it may be concluded that though social equality and religious exclusion seem externally two separates things, they are internally related with each other because both are the parts of society. In Jainism social equality is maintained by making marital relations and attending social and religious conferences equally. But internally each sect of Jainism feels itself superior to others. This feeling of superiority undoubtedly affects the social equality.

References:

1. *brāhmanoasya mukhamāsibāhū rājanyaḥ kṛtaḥ. ūrū tadasya yadvaiśyaḥ padyām śūdro ajāyata. Rgveda, 10/90/12*
2. *cāturvaṇyam mayā sṛṣtam guṇakarma vibhāgaśaḥ, Śrīmadbhagavadgītā, 4/13*
3. *kammuṇā bambhaṇo hoi, kammuṇā hoi khattiyō | vaisso kammuṇā hoi suddo hoi kammuṇā || Uttarādhyayanāsūtra, 25/33*
4. *na jaccā vasalo hoti, na jacchā hoti brāhmaṇo | kammanā vasalo hoti, kammanā hoti brāhmaṇa || Khuddakanikāya, vol. I, 290, v-vi*
5. *savve pānā, save bhūyā, save jīvā savve sattā, na haṇṭavvā, na ajjāvevavvā, na paridhittavvā, na pariyaṇvevavvā, na uddvevavvā, esa dhamme suddhe... Ācārāṅgasūtra, 1/4/1*
6. *anantadharmātmakamvastu, Śaḍadarśana-smuccaya, 55*
7. *Bhrama Vidhvāsanam, Dānādhikaraṇa, Jayācārya, Bola 1, pp. 52-53, published by Ishwarcand Chopra, Calcutta, 1923*
8. *Saddharmamaṇḍanam, Bol 1, p. 94, Jawaharlaljee, Published by Shri Akhil Bhartiya Sadhumargi Jain Sangh, Bikaner, 1966*

Śrāvastī - The Sacred Place of Śramaṇa Tradition

Km. Richa Singh*

Śrāvastī or Sāvattī (as described in the Buddhist and Jaina texts respectively) holds an unique place in Śramaṇa tradition. Here Śramaṇa tradition is meant for those religions whose central theme was renunciation and whose ascetics used to wander hither and thither. The sects of Buddhist, Jaina and Ājīvika come in this category. Indeed, wandering was the way of life of these ascetics. But this very way of life has been in vogue in India since time immemorial as we find in *Aitareya Brāhmaṇa* go on wandering “*caraiveti, caraiveti*” - it was the inspiration given to *Shunahsepa* by Indra. This very word *Caraiveti* has been used on several occasion by the Enlightened one i.e. Gautama Buddha. His famous saying “*Carai vai Bhikkhave, bahujanahitāya, bahujansukhāya lokānukampāya*” *Bhikkhus*, go on wandering for the welfare of the people, for the happiness of the people” remind us the basic value of the Śramaṇa tradition. The ascetics of the Jainas and the Ājīvikas had the same job. These ascetics travelled far and wide and consequently there developed a sense of belonging, friendliness and mutual understanding and gradually some centres emerged as the preferred places for these ascetics as they were advised to stay where some facilities for dwelling could be availed. Amongst such numerous centres, Śrāvastī was the most prominent one. In this research paper, I have endeavoured to throw some light on the prominence of Śrāvastī which attracted all the followers of the prevalent religious sects.

As the Buddhist Centre

Śrāvastī is regarded in the Buddhist texts to be one of the six great Indian cities during the period of Mahāvīra and Buddha. The latter chose it the most suitable place for him as we are informed that Lord Buddha spent there more than half of his recluse life. It is stated in the Buddhist chronicles that Buddha spent here 25 rainy seasons out of 45 rainy seasons.

The Buddhist texts acquaint us about the naming of the city by giving interesting story. Several people belonging to different professions lived in this city. These people asked each other what they had “*Kim Bhandam atthi.*” “*Sabbam atthi*” each and everything-it was the reply and it was named Sāvattī on this reply.¹ This story leads us to believe that Śrāvastī was a prosperous city and had each and everything for a better life. We are however told from the same source of information that there was a hermitage of monk Sāvattā on whose site, this city was founded. Whatsoever be the truth, Śrāvastī, during the time of Buddha and even after his demise, remained itself as a famous Buddhist pilgrimage for more than one thousand years.

It was the most prominent place for the Buddhist nuns. There was the *Rājakārāma Vihāra* which was specially built for the nuns. According to *Majjhima Nikāya* this nunnery was built by the king Prasenajita at the suggestion of Lord Buddha himself.² *Dhammapada* commentary states the same thing. According to it, once Bhikṣuṇī

* Research Scholar, A.I.H.C. & Archaeology, B.H.U., Varanasi

Utpalavarṇā, the chief female disciple of Buddha, was assaulted and raped in Andhavana by some mischievous persons. Listening this incident, Lord Buddha suggested king Prasenajita to erect a nunnery where the nuns could dwell with safety. The *Saṃyutta Nikāya* gives, however, another story according to which some heretics wanted to build up a monastery for themselves near Jetavana. Lord Buddha used to stay there off and on. While staying at Jetavana, the Buddha heard the great uproar which the heretics were making in the preparation of building. Lord Buddha sent Ānanda and Sāriputra to suggest the king Prasenajita to stop it. But the king of Kośala refused to comply with the message. Then the Buddha went himself and preached him. Filled with remorse and realizing that he had never built a monastery, king Prasenajita began to construct *Rājakārāma*. This nunnery was situated just opposite to Jetavana. Andhavana was another proper place where the Buddhist monks and nuns used to stay. There was also a meditation hall (प्रधानघर) where monks and nuns used to contemplate. Some prominent nuns like Ālavikā, Somā, Kṛṣāgautamī, Vijayā, Utpalavarṇā, Cālā, Upacālā, Vajirā etc. are referred to in the commentary of *Therīgāthā* residing here.

Śrāvastī really occupied a prominent place in the Buddhist tradition. It was the place of Anāthapiṇḍaka and Viśākhā, the most prominent figures of Buddhist tradition. It was the place where Āngulimālya who wanted to kill Gautama Buddha, gave up his heresy. More over, it was the place where Bhikṣuṇī - saṃgha came into existence for the first time. According to the Mahāsāṅghika tradition, when Gautama Buddha was staying at Jetavana in Śrāvastī, Ānanda got the permission of Lord for the ordination of Mahāprajāpati Gautamī and other women.³ This place became the part of history as we hear that

about one thousand years after the *Nirvāṇa* of Lord Buddha, the Chinese pilgrim Fa-hian saw "The ruined Vihāra of Mahāprajāpati in Śrāvastī."⁴ After about two century, another Chinese pilgrim Huen-tsang visited this pious city. But till this period, the city had been deserted and ruined. He is referred to as saying "These ruins represent the great hall of the law which king Prasenajita built for Buddha. By the side of this hall, not far from it, above the ruins, a *stūpa* is built. This is where stood the Vihāra which king Prasenajita built for Prajāpati Bhikkhunī, the maternal aunt of Buddha." The existence of the Bhikṣuṇī-vihāra in Śrāvastī is supported by the *Mahāsāṅghika Bhikṣuṇī-vinaya* too. It mentions several nunneries built in Śrāvastī. It depicts that Vihāra had several rooms and each individual room was called *Pariveṇa*, *Pariveṇa* is meant a cell or a private chamber for a monk or a nun.⁶

As the Jaina Centre

Like Buddhism, Śrāvastī holds an unique place in the history of Jaina tradition. It has been called the Ārya Kṣetra and the capital of Kuṇālā or Kuṇālā country. Śrāvastī was associated with Jaina religion since time immemorial. Several Jaina Tīrthaṅkaras are shown closely attached to this place. It is said that Saṃbhavanātha, third Tīrthaṅkara, broke his first fast in this town by accepting food from lay-votary Surindradatta.⁷ According to *Uttarādhyayana Niryukti*, the twentieth Tīrthaṅkara, Muni Suvrata, had visited this place and initiated the members of royal family.⁸ Tīrthaṅkara Pārśva, too, is said to have visited this city and inspired several women like Kālī, Padmā, Śivā etc. for the initiation as mentioned in the *Jñātādharma-kathā*.⁹ Lord Mahāvīra is also said to have visited this city several times and initiated many persons. He also spent his tenth rainy season here before being omniscient.

Śrāvastī has the unfading name in the history of Jaina church organization. It was the place where Jamāli, the son-in-law of Lord Mahāvīra, established the first Nihlava.¹⁰ It was the first dissension in the Jaina church during the life-time of Mahāvīra. It never stopped and finally broke away the united Jaina church in the coming centuries. This place saw the important discussion held between Keśī, the follower of Pārśva tradition, and Indrabhūti Gautama, the principal disciple of Mahāvīra, on some differences regarding their respective code of conduct.¹¹ It appears that Keśī was the inhabitant of Śrāvastī. He is also presented in an earlier Buddhist text *Dīgha Nikāya* having held conversation with king Payesī on some philosophical matter.¹² This conversation has, with some minor alterations, been described in a Jaina *Upāṅga* text *Rājaprasāniya*.¹³ The methodology adopted in both the texts suggests us to believe that Keśī was the one and the same person mentioned in both the tradition. Besides it, the Theravāli of *Kalpasūtra*¹⁴ mentions the *Śrāvastikā śākhā* which obviously had its relation to this city. It was one of the four branches of Veṣavāṭikagaṇa originated from preceptor Kāmardhi, the disciple of Ācārya Suhasti, most probably belonging to the end of third century B.C. It has been suggested that there was a temple of Tīrthaṅkara Sambhavanātha as Ācārya, Jinaprabha informs that the temple was renovated several times but finally it was destroyed for ever during the reign of Sultan Alauddin Khilzi.¹⁵ The *Bṛhatkathakośa* of Hariṣeṇa which was written in the middle of tenth century A.D. also confirms the presence of Jina temple at Śrāvastī.¹⁶ It seems that Jaina religion could retain its presence here at least more than one thousand years from the time of Mahāvīra upto the beginning of the Gupta period.

As the Ājīvika Centre:

Like Buddhism and Jainism, Śrāvastī was a prominent centre of Ājīvika sect. A large number of lay-followers of this tradition were residing here. Lady Hālāhalā of Śrāvastī, Saddālaputra, the potter of Polāsapur were some rich and prominent followers and Makkhaliputra Gośāla used to stay at their places.¹⁷ Once he was staying at her resting place, as *Bhagavatī* - an ancient Jaina texts, informs us, Lord Mahāvīra also paid a visit to this city. Both were familiar to each other before this meeting. We are told that Gośāla had come into contact with Mahāvīra during the latter's second rainy season spent at Nalanda.¹⁸ This meeting was fruitless but during the same year Gośāla again approached Mahāvīra at Kollāga settlement and requested him to take him as his disciple. This time his request was accepted and both lived together for a considerable period. Meanwhile, dissension arose between the two giants on some philosophical points. Once Mahāvīra visited Śrāvastī to spend his rainy season before being omniscient. It was his tenth rainy season. Makkhaliputra Gośāla acquired here tejośyā and struck Mahāvīra with it to kill him. But it counter effected Gośāla and consequently he died after seven days. It was indeed the preferred place of Gośāla who, as we are told, stayed at least sixteen years at Śrāvastī and if we believe Gośāla's claim, he attained Jina-hood here some two years before Mahāvīra.²¹ He had numerous supporters in this town. The daily-routine of the Ājivikas of Śrāvastī has been described in detail in Buddhist *Jātakas* also and "it would seem that the Kośāla king Prasenajita was more favourably disposed to them than was his contemporary Bimbisāra of Magadh."²² There was a *Ājivika-sabhā* or meeting place of the Ājivikas at Śrāvastī

Thus, we see that Śrāvastī attracted the lay-followers of all contemporary religious sects including Buddhism, Jainism, Ājivikas and even Brahmanism or Hinduism. It was also a great place of learning. Mrs. Rhys Davids, the great Indologist, has conjectured Śrāvastī as “the earliest Emporium for the collection and preservation of the Talks.”²³ Her comments seems to be totally true. We are informed that “of the four *Nikāyas*; 871 *suttas* are said to have been preached in Śrāvastī; 844 of which are in Jetavana, 23 in Pubbārārām and 4 in the suburbs. These *suttas* are made up of 6 in the *Dīgha Nikāya*, 75 in the *Majjhima Nikāya*, 736 in *Saṃyutta Nikāya* and 54 in the *Āṅguttara Nikāya*.”²⁴

This sacred place has now unmistakably been confirmed with Sahet-Mahet situated in Baharaich district of Uttar Pradesh.²⁵ It was Gen. Cunningham who began to excavate this town in 1863 A.D. and he discovered the image of

Bodhisattva of Kuṣāṇa period, now kept in Lucknow museum. Sir John F. Marshall has also discovered the lower-half of a life-size status of a Bodhisattva. The pedestal of this status bears an early Kuṣāṇa inscription which states that it was presented at Jetavana of Śrāvastī. After him, several noted Indologists such as Veneta, Holey, Vogal, Daya Rāma Sahni, J.F. Marshall did their job with utmost care and consequently the numerous ruins of *Vihāras*, *stūpas*, temples, Buddhist, Jaina and Hindu images for worship belonging to fourth century B.C. upto 12th century A.D. came into light. The Sahet-Mahet Plate²⁶ of Govinda Chandra of Gaharwal dynasty, dated Vikram saṃvat 1186 (1122 A.D.) assures us that this place was Jetavana as its 19th - 20th line confirms its name. This place in recent year has attracted the monks as well as lay-followers of Buddhist, Jaina and Vedic, researchers as well as tourists and fortunately it is being developed as a prominent centre of tourism.

References:

1. *Dictionary of Pāli Proper Names*, Vol. II, p. 1126-27.
2. *Ibid*, p. 720.
3. *Bhikṣuṇī Vinaya*, p. 5; see for detail (Singh, A. P. Singh, *Jaina and Bauddha Bhukṣuṇī Saṃgha*, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi, 1986. pp. 7-11)
4. *Buddhist Records of the Western World* (S. Beal), Vol. I, p.22.
5. *Ibid*, Vol. III, p. 213.
6. *Bhikṣuṇī Vinaya*, p. 158.
7. *Āvaśyaka Nirukti*, Verse 327.
8. *Bṛhatkalpa Bhāṣya*, Vol. III, verse 3272-74.
9. *Jñātādharma-kathā*, 148-53.
10. *Prakrit Proper Names*, Vol. II, p. 781.
11. *Uttarādhyayanāsūtra*, Chapt. 23.
12. *Dīgha Nikāya*, 2/10; *Saṃskṛiti Sandhāna*, Vol. XVI, p. 27-29.
13. *Rājaprasāniya*, p. 239-72.
14. *Kalpasūtra*, p. 214.
15. *Vividhatīrthakalpa* (Śrāvastīkalpa), p. 16.
16. *Bṛhatkathākośa*, Chapter 156.
17. *Bhagavatī*, 539-40; *Kalpasūtra-vṛtti*, p. 37.
18. *Āvaśyaka Cūrṇi*, I, p. 282.
19. *Bhagavatī*, 542.
20. *Ibid*, 555-6; *Āvaśyaka Cūrṇi*, I, p. 299.
21. *History and Doctrines of the Ājivikas*, p. 50.
22. *Ibid*, p. 51.
23. D.P.P.N., Vol. II, p. 1127
24. *Ibid*; see for detail, *Kindred Sayings of Wood Ward*, 5. XVIII.
25. *Ancient Geography of India* (Cunningham), p. 469, *Geographical Dictionary of Ancient & Medieval India* (N.B. Dey), 189.
26. *Epigraphia Indica*, Vol. XI, p. 20-26.



पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में

खरतरगच्छ की साध्वीत्रय का अध्ययनार्थ पार्श्वनाथ
विद्यापीठ में आगमन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं जैन समाज वाराणसी के लिए यह हर्ष का विषय है कि खरतरगच्छाधिपति आचार्य श्री जिनकैलाश सूरीश्वरजी म०सा० की आज्ञानुवर्तिनी आगमज्योति आशु कवियित्री प्रवर्तिनी गुरुवर्या श्री सज्जन श्री जी म०सा० की शिष्या सज्जनमणि श्री शशिप्रभा श्री जी म०सा० की निश्रावर्तिनी साध्वी सौम्यगुणा श्री जी म० सा०, साध्वी स्थितप्रज्ञा श्री जी म०सा० तथा संवेगप्रज्ञा श्री जी म०सा० अध्ययनार्थ टाटानगर से चातुर्मास पूर्ण कर पार्श्वनाथ विद्यापीठ में पधारी हैं। ज्ञातव्य है कि साध्वीद्वय सौम्यगुणा जी म०सा०

एवं साध्वीश्री स्थितप्रज्ञा जी म०सा० डॉ० सागरमल जैन के निर्देशन में जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित हैं। साध्वी संवेगप्रज्ञा जी म०सा० ने भी डॉ० जैन के निर्देशन में ही अपना शोध-प्रबन्ध परीक्षार्थ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया है।

सम्प्रति डॉ० साध्वी सौम्यगुणा श्री जी म०सा० 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर डी०लिट्० कर रही हैं। आप सभी विदुषी साध्वियों के आगमन से पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार गौरवान्वित है।

२००९ का चातुर्मास अध्ययनार्थ साध्वी श्री पार्श्वनाथ विद्यापीठ में ही करेंगी।



जैन जगत्

मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री द्वारा
डॉ० सागरमल जैन सम्मानित

भारतीय साहित्य, कला एवं संस्कृति को समर्पित शाजापुर नगर की 'पहचान' नामक संस्था द्वारा १९ फरवरी २००९ को अमृत महोत्सव समारोह में जैन धर्म-दर्शन के मर्मज्ञ ख्यातिलब्ध डॉ० सागरमल जैन को सम्मानित किया गया। समारोह का शुभारम्भ पूज्या पुष्पा श्री जी म०सा० आदि ठाणा ७ की निश्रा में हुआ। समारोह के मुख्य अतिथि मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री शिवराज सिंह चौहान थे। डॉ० शिवराज सिंह चौहान डॉ० सागरमल जैन के विद्यार्थी रहे हैं। डॉ० चौहान ने शाल, नारियल व प्रशस्ति पत्र से डॉ० सागरमल जी जैन को सम्मानित किया तथा डॉ० जैन द्वारा सम्पादित 'अध्यात्मसार', 'ध्यानदर्पण' एवं 'ऋषिभाषितः एक अध्ययन' नामक पुस्तकों का विमोचन भी किया।

इस अवसर पर शाजापुर में विराजित साध्वी मंडल ने डॉ० जैन को 'ज्ञान महोदधि' की उपाधि से अलंकृत किया। समारोह की अध्यक्षता श्री पारस जैन, खाद्य आपूर्ति मंत्री, म० प्र० शासन, ने की।

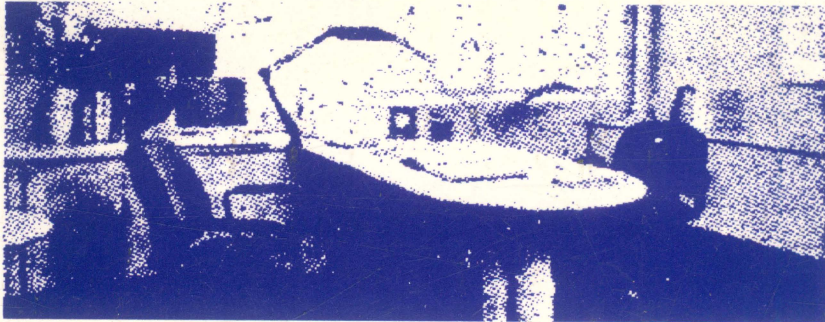


डॉ० सुदर्शन मिश्र डी०लिट्० की
उपाधि से विभूषित

डॉ० सुदर्शन मिश्र, प्राचार्य, बी० एस० एस० कालेज, बचरी, पीरो, भोजपुर को वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा के द्वारा उनके शोध-प्रबन्ध 'महापुराण का सांस्कृतिक विश्लेषण' पर डी०लिट्० की उपाधि प्रदान की गई है। आपने आपना शोध-प्रबन्ध प्रो० रामजी राय, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैनशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा के कुशल निर्देशन एवं मार्गदर्शन में सम्पन्न किया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ आपकी इस उपलब्धि हेतु आपको बधाई देता है।



NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



ONLY NUWUD®

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings

DESIGN FLEXIBILITY

flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think **NUWUD MDF***

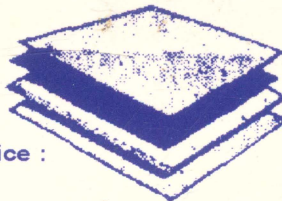


Registered Head Office :

20/6, Mahura Road,
Faridabad-121006,
HARYANA.

Tel: +91 129 230400~6,

Fax: +91 129 5061037.



MS 17408



*The one wood for
all your woodwork*

Marketing Offices

Ahmedabad : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G. Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Banglore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Banglore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A, 4th Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794, **Kerala** : 33/1560-G, Chakkaramparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028 Tel: 0484-3969454, 3969452, **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1st floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 014 1-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2nd Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2nd floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.